श्रमण
ŚRAMAṆA

A Quarterly Research Journal of Parshwanath Vidyapeeth

Vol. LVIII No. II-III April-September 2007

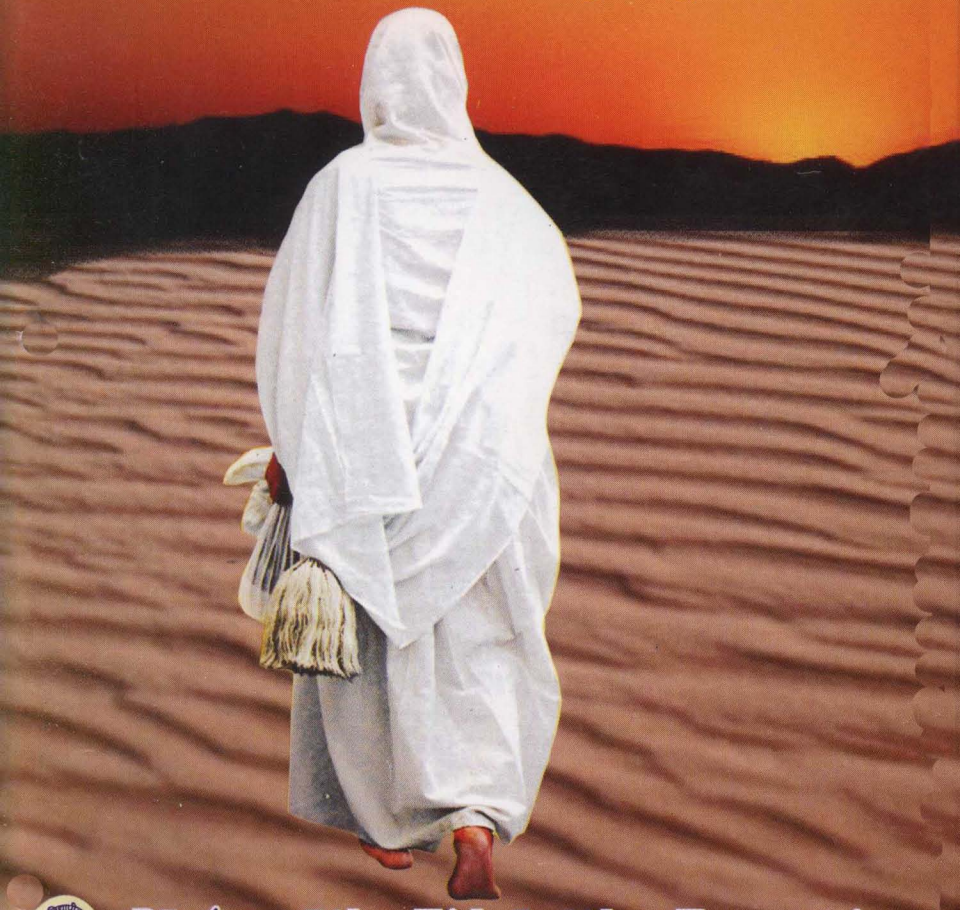

Pārśwanātha Vidyāpiṭha, Varanasi
पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

श्रमण

ŚRAMAṆA

A Quarterly Research Journal of Parshwanath Vidyapeeth

Vol. LVIII No. II-III April - September 2007

Editor

Hindi Section
Dr. Vijaya Kumar

English Section
Dr. S.P. Pandey

Publisher

Parshwanath Vidyapeeth, Varaṇasi
Recognized by Banaras Hindu University as an external Research Centre

श्रमण: पार्श्वनाथ विद्यापीठ की त्रैमासिक शोध-पत्रिका

Śramaṇa: A Quarterly Research Journal of Parshwanath Vidyapeeth

Vol. LVIII **No. II-III** **April - September 2007**

ISSN-0972-1002

Subscription

Annual membership

For Institutions: Rs. 250.00
For Individuals: Rs. 200.00
Per Issue Price: Rs. 50.00

Life Membership

For Institutions: Rs. 1500.00
For Individuals: Rs. 500.00

Membership fee can be sent in the form of cheque or draft only in the name of ***Parshwanath Vidyapeeth***

Published by : Parshwanath Vidyapeeth
I. T. I. Road, Karaundi, Varanasi-221005
Ph. 911-0542-2575521, 2575890

Email : parshwanathvidyapeeth@rediffmail.com
pvri@sify.com

Type Setting by : ***Add Vision***
Karaundi, Varanasi-221005

Printed at : Vardhaman Mudranalaya
Bhelupur, Varanasi-221010

Note : The Editor may not be agreed with the views or the facts stated in this Journal by the respected authors.

श्रमण

अप्रैल-सितम्बर २००७

विषयसूची

हिन्दी खण्ड

१.	जैन परम्परा में मंत्र-तंत्र	डॉ० ऋषभचन्द्र जैन 'फौजदार'	१-१२
२.	तप : साधन और समाधान	डॉ० रज्जन कुमार	१३-२२
३.	निरयावलिया-कल्पिका : एक समीक्षात्मक अध्ययन	डॉ० सुधा जैन	२३-३३
४.	धार्मिक-सहिष्णुता और धर्मों के बीच मैत्रीभाव - जैन-दृष्टिकोण	डॉ० राजेन्द्र जैन	३४-४२
५.	वैदिक श्रमण-परम्परा और उसकी लोक-यात्रा	डॉ० विन्ध्येश्वरी प्रसाद मिश्र 'विनय'	४३-५३
६.	आप्तोपदेश: शब्द: की जयन्त भट्टीय व्याख्या	डॉ० जयन्त उपाध्याय संजय कुमार सिंह	५४-६२
७.	कालिदास के नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत के तद्धित प्रत्यय	कौशल्या चौहान	६३-७५
८.	तंत्र दर्शन में ज्ञान का स्वरूप	डॉ० जयशंकर सिंह	७६-८०
९.	जैन दर्शन एवं योगवासिष्ठ में ज्ञान की क्रमागत अवस्थाओं का विवेचन	डॉ० मनोज कुमार तिवारी	८१-९४
१०.	वैदिक एवं श्रमण परम्पराओं की दार्शनिक पारस्परिकता	डॉ० विजय कुमार	९५-१००
११.	बौद्ध एवं जैन दर्शन में व्याप्ति-विमर्श	डॉ०राघवेन्द्र पाण्डेय	१०१-११४
१२.	जैन दार्शनिक चिन्तन का ऐतिहासिक विकास-क्रम	डॉ० किरन श्रीवास्तव	११५-१२६
१३.	प्रकाशित उपांग साहित्य	ओम प्रकाश सिंह	१२७-१३५

ENGLISH SECTION

14.	Concept of Omniscience in Jainism	Dr. S.P. Pandey	137-162
15.	Contribution of Śramaṇa Tradition to Indian Culture	Dr. B.N. Sinha	163-171
16.	Jahangir's relation with Spiritual Jaina Leaders	Dr. Nirmala Gupta	172-187
17	Jainism and Meat-Eating	M.V. Shah	188-206
18.	Towards World Peace on the Wheels of 'Anekāntavāda and Syādvāda'	Dr. Jaya Singh	207-217
१९.	पार्श्वनाथ विद्यापीठ के प्राङ्गण में		२१८-२२०
२०.	जैन जगत्		२२१-२२७
२१.	साहित्य सत्कार		२२८-२३६

हिन्दी खण्ड

- जैन परम्परा में मंत्र-तंत्र — डॉ० ऋषभचन्द्र जैन 'फौजदार'
- तप : साधन और समाधान — डॉ० रज्जन कुमार
- निरयावलिया-कल्पिका : एक समीक्षात्मक अध्ययन — डॉ० सुधा जैन
- धार्मिक-सहिष्णुता और धर्मों के बीच मैत्रीभाव - जैन-दृष्टिकोण — डॉ० राजेन्द्र जैन
- वैदिक श्रमण-परम्परा और उसकी लोक-यात्रा — डॉ० विन्ध्येश्वरी प्रसाद मिश्र 'विनय'
- आप्तोपदेश: शब्द: की जयन्त भट्टीय व्याख्या — डॉ० जयन्त उपाध्याय, संजय कुमार सिंह
- कालिदास के नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत के तद्धित प्रत्यय — कौशल्या चौहान
- तंत्र दर्शन में ज्ञान का स्वरूप — डॉ० जयशंकर सिंह
- जैन दर्शन एवं योगवासिष्ठ में ज्ञान की क्रमागत अवस्थाओं का विवेचन — डॉ० मनोज कुमार तिवारी
- वैदिक एवं श्रमण परम्पराओं की दार्शनिक पारस्परिकता — डॉ० विजय कुमार
- बौद्ध एवं जैन दर्शन में व्याप्ति-विमर्श — डॉ०राघवेन्द्र पाण्डेय
- जैन दार्शनिक चिन्तन का ऐतिहासिक विकास-क्रम — डॉ० किरन श्रीवास्तव
- प्रकाशित उपांग साहित्य — ओम प्रकाश सिंह

श्रमण, वर्ष ५८, अंक २-३
अप्रैल-सितम्बर २००७

जैन परम्परा में मंत्र-तंत्र

डॉ० ऋषभचन्द्र जैन 'फौजदार'*

जैन परम्परा में प्राचीन काल से मंत्रविद्या का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। इस विद्या का सम्बन्ध द्वादशांग वाणी के बारहवें अंग 'दृष्टिवाद' से है, जिसके परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका ये पांच भेद हैं। पूर्वगत के चौदह भेद हैं। उनमें विद्यानुवाद नामक दशवां पूर्व पन्द्रह वस्तुगत, तीन सौ प्राभृतों के एक करोड़ दश लाख पदों के द्वारा अंगुष्ठप्रसेना आदि सात सौ अल्पविद्याओं का, रोहिणी आदि पांच सौ महाविद्याओं और अन्तरिक्ष, भूमि, अंग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यंजन, छिन्न इन आठ महानिमित्तों का कथन करता है।[१] वहां इन विद्याओं के साधन की विधि तथा फल का भी वर्णन है। 'तत्त्वार्थवार्तिक', 'षट्खण्डागम' की धवला टीका, 'गोम्मटसार' जीवकाण्ड की जी०त०प्र० टीका और 'अंगपण्णत्ति' ग्रन्थों में अष्टांग महानिमित्तों का वर्णन विद्यानुवाद पूर्व में किया गया है। 'कसायपाहुड' की जयधवला टीका और 'हरिवंशपुराण' में उन्हें कल्याणवाद पूर्व के अन्तर्गत बतलाया गया है।

'दृष्टिवाद' का पांचवां भेद चूलिका है। इसके पांच भेद हैं - १. जलगता, २. स्थलगता, ३. मायागता ४. रूपगता और ५. आकाशगता। जलगता चूलिका में जल में गमन, जल का स्तम्भन, अग्नि का स्तम्भन, अग्नि का भक्षण, अग्नि पर बैठना, अग्नि में प्रवेश करना आदि के कारणभूत मंत्र, तंत्र और तपश्चरण आदि का वर्णन है। स्थलगता चूलिका मेरु, कुलाचल, भूमि में प्रवेश करने, शीघ्र गमन करने आदि के कारणभूत मंत्र, तंत्र, तपश्चरण आदि का वर्णन करती है। मायागता चूलिका में मायावी रूप, इन्द्रजाल (जादूगरी), विक्रिया आदि के कारणभूत मंत्र, तंत्र, तपश्चरण आदि कहे गये हैं। रूपगता चूलिका सिंह, हाथी, घोड़ा, हिरण, नर, खरगोश, बैल, व्याघ्र आदि में रूप परावर्तन के कारणभूत मंत्र-तंत्र तपश्चरण आदि तथा चित्र, काष्ठ, लेप्य, उत्खनन आदि के लक्षण और धातुवाद, रसवाद, खदान आदि वादों का कथन करती है। आकाशगता चूलिका में आकाश में गमन करने के कारणभूत मंत्र-तंत्र तपश्चरण आदि का वर्णन किया गया है। उक्त पांचों चूलिकाओं में प्रत्येक के दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दो सौ (२०९८९२००) पद हैं, जिनमें विभिन्न मंत्र-तंत्रों का विशाल संग्रह किया गया है।[२]

* *निदेशक, प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली-८४४१२८ (बिहार)*

जैन परम्परा का मूलमंत्र 'णमोकार मंत्र' है, जिसे अनादि-निधन कहा जाता है। इसमें अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पांचों परमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है, इसलिए इसे नमस्कार मंत्र या पंच नमस्कार मंत्र भी कहा जाता है। इस मंत्र का प्राचीनतम किन्तु अपूर्ण उल्लेख सम्राट खारवेल के हाथीगुम्फा लेख में उपलब्ध होता है। वहां केवल 'नमो अरिहंताणं' और 'नमो सवसिधानं' ये दो पद ही पाये जाते हैं।[३] इसके पांचों पद 'षट्खण्डागम', 'प्रज्ञापना', 'भगवती' और 'कल्पसूत्र' आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।

ओंकारमय (अरहन्त, अशरीरी, आचार्य, उपाध्याय और मुनि) णमोकार मंत्र मूलत: विशुद्ध आध्यात्मिक मंत्र है, इसके जाप से साधक को विशेष ऊर्जा प्राप्त होती है। वह ऊर्जा साधक के कर्ममल को जलाकर नष्ट कर देती है, जिससे उसकी आत्मा विशुद्ध हो जाती है और अन्तत: साधक मोक्षसिद्धि प्राप्त कर लेता है। इस मंत्र का उपयोग स्तम्भन, वशीकरण, उपसर्ग निवारण आदि कार्यों में भी होता रहा है। जैन साहित्य में इस मंत्र के अनेक चमत्कारिक उदाहरण देखे जा सकते हैं।[४]

जैन परम्परा में चौबीस तीर्थंकरों के शासनदेव स्वीकार किये गये हैं, जो यक्ष और यक्षी युगलरूप होते हैं। ये शासनदेव तीर्थंकरों के आराधकों के संकटों का निवारण करनेवाले तथा अनेक सिद्धियों के दाता माने जाते हैं। जैन परम्परा के मंत्र-तंत्र विषयक साहित्य में पहले तीर्थंकर ऋषभदेव की शासनदेवी चक्रेश्वरी, आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ की शासनदेवी ज्वालामालिनी, बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ की शासनदेवी अम्बिका अपरनाम कूष्माण्डिनी और तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की शासनदेवी पद्मावती की आराधना विशेष रूप से की गई है। यहां सरस्वती देवी का भी खूब प्रभाव दिखाई देता है। उक्त सभी के कल्प-ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। स्तुति-मंत्रों के जाप और होम करने से सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। उन सिद्धियों का प्रयोग स्व-पर उपकार के लिए तंत्र और यंत्र के माध्यम से किया जाता है। मंत्र, तंत्र, यंत्र, सिद्धि-विधान एवं प्रयोग आदि का विस्तृत विवरण सम्बद्ध ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। 'धवलाटीका' (पु० १३, ५/५/८२/३४९) में मंत्र-तंत्र के सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ 'जोणिपाहुड' का उल्लेख हुआ है। क्षु० जिनेन्द्र वर्णी (जै०सि०को० १, पृ० ३४०) ने उसे धरसेन (ई० ४३) द्वारा रचित बताया है, किन्तु दुर्भाग्य से उक्त ग्रन्थ अद्यावधि अनुपलब्ध है। यहां जैन परम्परा के मंत्र-तंत्र-यंत्र विषयक साहित्य का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है -

१. अनुभवसिद्ध मंत्र द्वात्रिंशिका

इसके कर्ता आचार्य भद्रगुप्त हैं। एच०आर० कापडिया ने इसका रचनाकाल विक्रम की सातवीं सदी माना है।[५] इस द्वात्रिंशिका का प्रकाशन 'भैरव-पद्मावती-कल्प'

के तीसवें परिशिष्ट के रूप में सन् १९३७ में अहमदाबाद से हुआ है। रचनाकार ने ग्रन्थारम्भ में इसे 'मंत्र द्वात्रिंशिका' तथा अन्त में 'महामंत्र द्वात्रिंशिका' कहा है। इसमें कुल पांच अधिकार हैं, जिनमें क्रमशः २०, ४२, ४१, ५० एवं २४ श्लोक हैं। मंगल पद्य के बाद कहा गया है कि स्तम्भन, मोहन, उच्चाटन, वश्याकर्षण, जम्भन, विद्वेषण, मारण, शान्तिक, पौष्टिक आदि को विधि के अनुसार इस शास्त्र में कहूंगा। प्रथम अधिकार के आठवें श्लोक में बताया है[६] कि 'विद्याप्रवादपूर्व के तीसरे प्राभृत से श्री वीर स्वामी के द्वारा कर्मघात के निमित्त यह उद्धृत किया गया है।' प्रथम अधिकार को 'सर्वकर्मकरण' नाम दिया गया है। द्वितीय अधिकार में अपराजिता देवी की सिद्धि प्राप्त करने वाले को लोक में अपराजित बताया गया है। यहाँ पार्श्वयक्ष की सिद्धि का विधान भी कहा गया है। तृतीय अधिकार में स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन आदि के मंत्र एवं विधियां बतलाई गई हैं। यहाँ 'पिशाचिनी' नामक विद्या का सिद्धिविधान भी कहा गया है। तीसवें पद्य में मंत्र-विधि को 'परमागमसंप्रोक्तं' कहा गया है। यहाँ यह भी बताया गया है कि मनुष्य जिस-जिस सांसारिक कार्य का विचार करता है इस मंत्र के प्रभाव से उसे वह सब कुछ प्राप्त होता है।[७]

चतुर्थ अधिकार में अम्बिका देवी, सरस्वती देवी और पद्मावती देवी की आराधना का विधान बताते हुए उन्हें सर्वकार्यसाधिका निरूपित किया गया है। इस अधिकार के तीसवें पद्य में 'सेतुबन्ध' काव्य का उल्लेख प्राप्त होता है। आगे कहा है कि मनीषियों को सत्पात्रों में सिद्धि का व्यय करते रहना चाहिए, अन्यथा सिद्धि क्षीण हो जाती है। पंचम अधिकार में गुरु-शिष्य दोनों के लिए दिशानिर्देश है। अन्त में ग्रन्थकार ने कहा है कि योग्य पात्रों के हित की कामना से मैंने श्रुतसागर का आलोड़न करके महारत्नों के समान इन मंत्रों का कथन किया है।[८]

२. ज्वालामालिनी-कल्प

इसके कर्ता इन्द्रनन्दि हैं। इनके गुरु का नाम बप्पन्दि या बप्पणनन्दि है। ग्रन्थ प्रशस्ति के अनुसार इसका रचनाकाल शक सम्वत् ८६१ (ई० सन् ९३९) है।[९] इसकी एक हस्तलिखित प्रति जैन सिद्धांत भवन, आरा में सुरक्षित है। इसका प्रकाशन सन् १९६६ में मूलचंद किसनदास कापड़िया, सूरत ने किया है। इसमें स्व० पं० चन्द्रशेखर शास्त्री की भाषा टीका भी छपी है।[१०] इस ग्रन्थ का समीक्षात्मक विवरण 'अनेकान्त' वर्ष-१, पृ० ४३० एवं ५५५ आदि पर पं० जुगलकिशोर मुख्तार ने प्रकाशित किया था। इसमें कुल पाँच सौ श्लोक हैं। ग्रन्थ दस अधिकारों में विभक्त है - १. मन्त्री २. ग्रह ३. मुद्रा ४. मंडल ५. कटुतैल ६. यंत्र ७. वश्यतंत्र ८. स्नपन-विधि ९. नीराजन-विधि और १०. साधन-विधि।

ग्रन्थ में ज्वालामालिनी देवी की स्तुति, मंत्र एवं सिद्धि विधान वर्णित है। प्रथम पद्य में भगवान चन्द्रप्रभ की वन्दना की गई है। यहां ज्वालामालिनी देवी का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि उनका शरीर श्वेत वर्ण है, वाहन महिष है, वे उज्ज्वल आभूषणों से युक्त हैं, उनके आठ हाथ हैं, जिनमें क्रमश: त्रिशूल, पाश, मत्स्य, धनुष, मंडल, फल, वरद (अग्नि) और चक्र धारण किये हैं। इस ग्रन्थ में ज्वालामालिनी देवी के सिद्धि विधान का विस्तार से कथन करने के बाद कौमारी देवी, वैष्णवी देवी, बाराही देवी, ऐन्द्री देवी, चामुण्डादेवी एवं महालक्ष्मी देवी की पूजन-विधि कही गई है। ग्रन्थ का वैशिष्ट्य दिखाने के लिए विदुषी कमलश्री का वृत्तान्त दिया गया है।[११] कमलश्री ग्रह-बाधा से पीड़ित थीं, जिन्हें हेलाचार्य (एलाचार्य) ने नीलगिरि के शिखर पर ज्वालामालिनी देवी की आराधना से मंत्र प्राप्त कर बाधा रहित किया था।

३. रिष्ट समुच्चय

यह आचार्य दुर्गदेव की रचना है। इसकी भाषा शौरसेनी प्राकृत है। गाथाओं की संख्या २६१ है। ग्रन्थोल्लेख (२६०-६१) के अनुसार लक्ष्मीनिवास राजा के राज्य में कुम्भनगर के शान्तिनाथ जिनालय में संवत् १०८९ श्रावण शुक्ला एकादशी को मूल नक्षत्र में इस ग्रन्थ की रचना हुई थी। इसमें अनेक मंत्र आये हैं। वैसे मूलत: यह निमित्त विषयक रचना मन्त्रमहोदधि है। यह ग्रन्थ वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, जयपुर से प्रकाशित है।

४. विद्यानुशासन

इसके कर्ता जिनसेन के शिष्य मल्लिषेण हैं। ये बड़े मन्त्रवादी थे। 'महापुराण' में इन्होंने स्वयं को 'गारुडमंत्रवादवेदी' लिखा है। विद्यानुशासन मंत्रशास्त्र का सबसे बड़ा ग्रन्थ है। इसमें चौबीस अधिकार तथा पाँच हजार मंत्र हैं।[१२] इसमें लगभग सात हजार श्लोक हैं। एच०आर० कापडिया ने इसे संग्रह ग्रन्थ कहा है।[१३] इसमें मल्लिषेण के अन्य ग्रन्थों का अधिकांश भाग पाया जाता है। एच०आर० कापडिया ने संभावना व्यक्त की है कि विद्यानुशासन द्राविड़ संघ के मतिसागर की रचना हो सकती है। इस ग्रन्थ का सम्पादन व प्रकाशन सम्भवत: आचार्य कुन्थुसागर जी महाराज की प्रेरणा से कुछ वर्ष पूर्व हुआ था। किन्तु प्रयत्नशील रहने पर भी मुझे उसके विषय में कोई जानकारी नहीं मिल पायी। इसका रचनाकाल विक्रम संवत् १११० के आस-पास है।

५. भैरव-पद्मावती-कल्प

यह भी मल्लिषेण (१०/५६) की रचना है। इन्होंने स्वयं को जिनसेन का शिष्य लिखा है। (१०/५५) ग्रन्थ के पुष्पिका वाक्य में इन्हें 'उभयभाषाकविशेखर'

कहा गया है। ग्रन्थकार ने ग्रन्थ की श्लोक संख्या चार सौ (१०/५६) लिखी है, किन्तु प्रकाशित संस्करण में यह संख्या ३०८ है। इस पर बन्धुषेण की संस्कृत टीका है। यह ग्रन्थ प्रो० के०वी० अभयंकर द्वारा सम्पादित तथा साराभाई मणिलाल नवाब के गुजराती अनुवाद के साथ सन् १९३७ में अहमदाबाद से तथा मूल एवं चन्द्रशेखर शास्त्री के हिन्दी अनुवाद के साथ मूलचन्द्र किशनदास कापड़िया द्वारा १९५२ में सूरत से प्रकाशित है। इसकी दो हस्तलिखित प्रतियाँ जैन सिद्धांत भवन, आरा में संग्रहीत हैं।[१४] ग्रन्थकार तथा टीकाकार दोनों ने सर्वप्रथम पार्श्वनाथ को नमन किया है। ग्रन्थ दश अधिकारों में विभाजित है। (१/५)

पहले मन्त्रिलक्षण नामक अधिकार में साधक की योग्यता का निरूपण किया गया है। दूसरे सकलीकरण अधिकार में अंगन्यास, दिक्बन्धन, ध्यान, अमृतस्थान आदि के विषय में बतलाया गया है। ध्यान के लिए पद्मावती की जिस मुद्रा का अंकन किया गया है, वैसे लक्षणों से युक्त पद्मावती की प्रतिमा ईडर के जैन मन्दिर में बतायी गई है।[१५] तीसरे देव्यर्चनाधिकार में शान्तिकादि षट्कर्मों के निमित्त दिशा, काल, आसन, पल्लव और अंगुलि का विधान कहा गया है। अनन्तर यंत्र लेखन-विधि, आह्वान, स्थितीकरण, सन्निधीकरण, पूजाविधान और विसर्जन रूप पंचोपचारी पूजा-विधि वर्णित है। मूलमंत्र के तीन लाख जाप पद्मपुष्पों से करने पर पद्मावती देवी की सिद्धि हो जाती है। पश्चात् षडक्षरी, त्र्यक्षरी, एकाक्षरी मंत्र, होम विधान तथा पार्श्वनाथ यक्ष को सिद्ध करने की विधि बतायी गई है। चौथे अधिकार में बारह यंत्रों एवं उनके मंत्रों का कथन है। पांचवें अधिकार में स्तम्भन मंत्रों एवं यंत्रों का विधान है। छठवें अधिकार में अंगनार्षण मंत्र-यंत्र बताये गये हैं। सातवें अधिकार में वशीकरण के अनेक मंत्रों और यंत्रों का वर्णन है। आठवें अधिकार में दर्पण निमित्त मंत्र एवं साधन-विधि, दीप निमित्त और कर्णपिशाची की सिद्धि का विधान है। नवमें वशीकरण तंत्र नामक अधिकार में अनेक औषधीय तन्त्रों का उल्लेख है, जो स्त्री-पुरुषों को आकर्षित करने तथा वश में करने के लिए उपयोगी बताये गये हैं। इनमें जनमोहन तिलक, चूर्ण भक्षण, अंजन विधान, धूतजय योग, जलूका प्रयोग आदि के कथन प्रमुख हैं। दशवें अधिकार में अष्टांग 'गारूड़-विद्या' का प्रतिपादन है। इसमें सर्प को वश में करने, पकड़ने, निर्विष करने आदि के मंत्र हैं। यहां नागप्रेषण, स्तम्भन, कुण्डलीकरण, कुंभप्रवेशन, रेखा, विषभक्षण आदि का विस्तार से निरूपण किया गया है। ग्रन्थ के अन्त में मंत्रदान-विधि कही गई है, इसमें सम्यक्त्व रहित पुरुष को मंत्र देने का निषेध है। पूरे ग्रन्थ में ४६ यंत्रों का उल्लेख पाया जाता है।

६. ज्वालिनी-कल्प

इसके कर्ता भी मल्लिषेण हैं। एच०आर० कापड़िया ने इसका रचना काल वि०सं० १११० के लगभग माना है।[१६] 'अनेकान्त' वर्ष - १, पृ० ४२८ पर, जैनेन्द्र

सिद्धांत कोष भाग - १, पृ० ३४३ पर तथा जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास, भाग-३, पृ० २३० पर ज्वालिनी-कल्प का उल्लेख है। इसमें ज्वालामालिनी देवी की स्तुति है। यह इन्द्रनन्दि के ज्वालामालिनी-कल्प से भिन्न है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति सेठ माणिकचन्द जी, मुम्बई के संग्रहालय में होने की सूचना है।[१७]

७. सरस्वती-मंत्र-कल्प

यह भी मल्लिषेण की रचना है। ग्रन्थ के आदि और अन्त में इसका नामोल्लेख है। ग्रन्थ में 'सरस्वती कल्प' तथा 'भारती कल्प' इन दोनों नामों का भी उल्लेख है। इसमें कुल ७८ पद्य तथा बीच-बीच में कुछ गद्य भी हैं। यह 'भैरव-पद्मावती-कल्प' में ग्यारहवें परिशिष्ट के रूप में प्रकाशित है। इसकी एक हस्तलिखित पाण्डुलिपि जैन सिद्धांत भवन, आरा के संग्रहालय में सुरक्षित है।[१८] ग्रन्थ में कहा गया है कि सांख्य, मीसांसक, चार्वाक, सौगत और दिगम्बर ज्ञान प्राप्त करने के लिए सरस्वती की आराधना करते हैं।[१९] सरस्वती के प्रसाद से सांसारिक लोग कवित्व, वाग्मित्व, वादित्व आदि प्राप्त करते हैं।

ग्रन्थ में सरस्वती का स्वरूप, चिह्न, साधक, साधना योग्य स्थान, आसन, सकलीकरण, पीठस्थापन आदि के मंत्र तथा देवी का मूलमंत्र बतलाया गया है। आगे सिद्धि-विधान शान्तिक यंत्र, वश्य यंत्र, द्वादश रंजिका यंत्र, सौभाग्यरक्षा यंत्र आदि की लेखन एवं प्रयोग-विधि का विवेचन है। सरस्वती की सिद्धि का प्रयोग वशीकरण, आकर्षण, विद्वेषण, उच्चाटन, मारण, शान्तिक, पौष्टिक आदि समस्त कार्यों में किये जाने का उल्लेख है।

८. कामचाण्डाली-कल्प

यह मल्लिषेण की अद्भुत रचना है। ग्रन्थोल्लेख के अनुसार वे रचना करते समय सम्पूर्ण कृति को अपने मन में अंकित कर लेते थे, जिसे बाद में भूमि पर पत्थर से यथावत् लिपिबद्ध करते थे। इससे उनकी स्मरण शक्ति का वैशिष्ट्य प्रकट होता है। इसका रचना काल भी लगभग वि०सं० १११० स्वीकार किया गया है।[२०] इसका दूसरा नाम 'सिद्धायिका-कल्प' भी कहा जाता है। इसके प्रकाशित होने की जानकारी नहीं मिली है। डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री के अनुसार इसकी हस्तलिखित प्रति ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन, मुम्बई में उपलब्ध है।[२१]

ग्रन्थ पांच अधिकारों में विभाजित है -१. साधक २. देव का आराधन ३. अशेषजन-वशीकरण ४. यंत्र-तंत्र और ५. ज्वालागर्दभ लक्षण। ग्रन्थ में कामचाण्डाली की स्तुति करते हुए उसका स्वरूप इस प्रकार दिया गया है -

भूषिताभेरणैः सर्वैर्मुक्तकेशा निरम्बरा।
पातु मां कामचाण्डाली कृष्णवर्णा चतुर्भुजा।।२।।
फलकांचकलशकरा शाल्मलिदण्डोद्वमुरगोपेता।
जयतात् त्रिभुवनवन्द्या जगति श्री कामचाण्डाली।।३।।[२२]

अर्थात् - जो सब आभूषणों से भूषित है, वस्त्र-रहित नग्न है, जिसके सिर के बाल खुले हुए हैं, ऐसी श्यामवर्णा कामचाण्डाली मेरी रक्षा करें। जिनके हाथ में फल, कांच और कलश है, जो शाल्मलिदण्ड को लिये हुए हैं और सर्प से युक्त हैं, त्रिभुवन वन्दनीया कामचाण्डाली जयवंत हों।

९. मंत्राधिराज-कल्प

सागरचन्द्र ने इसे वि०सं० १२५० के आस-पास रचा था। यह ग्रन्थ 'जैनस्तोत्रसन्दोह', भाग-२ में प्रकाशित है।[२३] चार सौ चौबीस पद्यों का यह ग्रन्थ पांच पटलों में विभाजित है। प्रथम पटल में पार्श्वनाथ को नमन एवं गुरु वन्दना करके रचना का उद्देश्य जिनभक्ति बताया गया है। प्रस्तावना के रूप में मंत्रदान-विधि का निरूपण है। दूसरे पटल में विषय निर्देष करते हुए मंत्राधिराज के बीजाक्षरों का प्रभाव कहा गया है। इसके पद्य सं०१३ में अभयदेवसूरि का तथा पद्य सं० १४ में पद्मदेव का नामोल्लेख है। तीसरे पटल में पार्श्वनाथ की स्तुति, १६ विद्यादेवियों, २४ तीर्थंकरों की माताओं, उनके २४ यक्षों और यक्षियों का कथन किया गया है। अनन्तर तीर्थंकरों के लांछन, उनके शरीर के वर्ण और ऊँचाई का निर्देश है। नवग्रहों और दशलोकपालों द्वारा तीर्थंकरों की सेवा करने का उल्लेख है। चौथे पटल में सकलीकरण, भूमि, जल और वस्त्रशुद्धि के मंत्र, पांच मुद्राएँ, आत्मरक्षा, पार्श्वयक्ष, पार्श्वयक्षिणी, धरणेन्द्र, कमठ, जया, विजया, पद्मावती और क्षेत्रपाल के मंत्र बतलाये गये हैं। तत्पश्चात् ध्यान, पूजन, जप और होम का विधान वर्णित है। पाँचवें पटल में ऋतुओं, योगों, आसनों, मुद्राओं और यंत्रों के विशिष्ट ध्यान का निरूपण हुआ है।

१०. मंत्रराज-रहस्य

विबुधचन्द्रसूरि के शिष्य सिंहतिलकसूरि इसके कर्ता हैं। ग्रन्थ का परिमाण आठ सौ श्लोक है। ग्रन्थ प्रशस्ति के अनुसार इसका रचना काल वि०सं० १३३२ है। ग्रन्थ पर लीलावती नामक स्वोपज्ञ संस्कृत वृत्ति है। इसमें अनेक गच्छों के सूरिमंत्रों का संग्रह किया गया है। यहाँ सूरिमंत्र के पांच पीठ बताये हैं। ग्रन्थ में एक हजार मंत्र होने का उल्लेख मिलता है।[२४] जिनरत्नकोष (पृ० ३०) में भी इसका उल्लेख है।

११. वर्धमान-विद्या-कल्प

यह 'मंत्रराज-रहस्य' के कर्ता सिंहतिलकसूरि की रचना है। इसका रचनाकाल वि०सं० १३४० के लगभग है। ग्रन्थकार ने इसे अनेक प्रकरणों में विभक्त किया है।

पहले तीन प्रकरणों में क्रमशः ८९, ७७ और ३६ पद्य हैं। इस कृति में सूरिमंत्र, कलिकुंड-पार्श्वनाथ-मंत्र, पंचपरमेष्ठी-मंत्र-कल्प, ऋषिमंडल-स्तव-यन्त्र और कुछ अन्य मंत्रों का निरूपण किया गया है। वर्धमान-विद्या का उपयोग दीक्षा, प्रतिष्ठा आदि कार्यों में किया जाता है।[२५] 'जिनरत्नकोष' में (पृ० ३४३-४४) भी इसका उल्लेख है।

१२. अद्भुत-पद्मावती कल्प

इसके कर्ता यशोभद्र उपाध्याय के शिष्य श्रीचन्द्रसूरि हैं। एच०आर० कापड़िया ने इसका रचनाकाल विक्रम की १४वीं सदी लिखा है। ग्रन्थकार ने इसे छः प्रकरणों में विभक्त किया है। इसके आदि के प्रथम दो प्रकरण अनुपलब्ध हैं। शेष 'भैरव-पद्मावती-कल्प' के पहले परिशिष्ट के रूप में प्रकाशित हैं। तीसरे प्रकरण में सकलीकरण विधान, चौथे में यंत्र सहित पद्मावती देवी की आराधना का क्रम, पाँचवें प्रकरण में योग्य पात्र के लक्षण तथा छठवें प्रकरण में बन्धन मंत्र, परविद्याछेदन मंत्र आदि कहे गये हैं। इसमें प्रत्यंगिरा, अंबिका, ज्वालामालिनी और चक्रेश्वरी का उल्लेख है। ग्रन्थकार ने 'इन्द्रनन्दि' का भी उल्लेख किया है और उन्हें 'मन्त्र-वादि-विद्या-चक्रवर्ति-चूड़ामणि' कहा है। यहाँ पद्मावती के विषय में कहा गया है कि हे **देवी!** तुम जैन परम्परा में पद्मावती, शैव परम्परा में गौरी, बौद्धागम में तारा, सांख्यागम में प्रकृति, भाट्टपरम्परा में गायत्री, कौलिक सम्प्रदाय में वज्रा हो और सम्पूर्ण विश्व में तुम्हारा यश व्याप्त है, इसलिए तुम्हें मेरा नमस्कार है।[२६]

१३. सरस्वती-कल्प

यह रचना गद्य-पद्यमय है। इसके कर्ता बप्पभट्टिसूरि हैं। इसमें प्रारम्भ में सरस्वती की स्तुति की गई है। पश्चात्, अर्चन मन्त्र, आत्मशुद्धि मंत्र, सकलीकरण, सारस्वत यंत्र-विधि कही गई है। आगे सरस्वती को सिद्ध करने की विधि वर्णित है। साथ में बप्पभट्टिसूरिकृत आम्नाय भी है। यहाँ कहा गया है कि मूलमंत्र का एक लाख जप तथा दशांश होम करने से सरस्वती सिद्ध हो जाती है। सरस्वती की सिद्धि से अद्वितीय विद्वता प्राप्त होती है। इसका प्रकाशन 'भैरव-पद्मावती-कल्प' के परिशिष्ट में हुआ है।

१४. चिन्तामणि-कल्प

इसका प्रकाशन 'जैनस्तोत्र-सन्दोह' भाग-२, पृ० ३०-३४ पर हुआ है। इसमें कुल ४७ पद्य हैं। अन्तिम पद्य में रचनाकार का नाम 'धर्मघोषसूरि' लिखा है तथा उन्हें मानतुंग का शिष्य कहा गया है। इसमें पार्श्वनाथ को प्रणाम करके 'चिन्तामणि कल्प' लिखने की प्रतिज्ञा की गई है। इसमें रचनाकार ने साधक का

स्वरूप, यन्त्रोद्धार और साधना की विधि बताई है। यह भी कहा है कि वशीकरण, स्तम्भन, मोहन, विद्वेषण और उच्चाटन कर्मों का मन में विचार भी नहीं करना चाहिए, केवल धर्मवृद्धिकारक शान्तिक और पौष्टिकता का ही विचार करना चाहिए। एच०आर० कापडिया ने इसका समय १५-१६वीं सदी माना है।

१५. रक्त-पद्मावती-कल्प

अज्ञात कर्तक यह रचना 'भैरव-पद्मावती-कल्प' में प्रकाशित है। यह केवल गद्यात्मक है। इसमें, मंत्र, यंत्र और पूजा की विशिष्ट विधि बतलाई गई है। यहाँ पद्मावती की सिद्धि को सर्वकर्मकर कहा गया है और यंत्र को भी आकर्षणादि षट्कर्मकर बताया गया है। एच०आर० कापड़िया ने अनेक मूर्तियों का उल्लेख किया है।[२७] इसकी संवत् १७३८ की हस्तलिखित प्रति जैन सिद्धांत भवन, आरा के संग्रहालय में है, जो अन्य प्राचीन प्रति से तैयार की गई है।

१६. अम्बिका-कल्प

इसके कर्ता शुभचन्द्र हैं। यह कल्प सात अधिकारों में विभाजित है। इसकी एक हस्तलिखित पाण्डुलिपि जैन सिद्धांत भवन, आरा में है।[२८] दिल्ली जिन-ग्रन्थ-रत्नावली (पृ० १२१) एवं जिनरत्नकोष, (पृ० १५) में भी इसकी सूचना है।

इनके अतिरिक्त मानतुंग का 'भक्तामर स्तोत्र', मलयकीर्ति का 'सरस्वती कल्प', गणधर वलय का 'घंटाकर्णवृद्विकल्प', 'प्रभावती कल्प', जिनप्रभसूरि का 'रहस्य कल्पद्रुम' और 'शारदा स्तवन' (सारस्वतमन्त्र गर्भित), दुर्गदेव का मन्त्र 'महोदधि', हेमचन्द्रसूरि का 'सिद्धसारस्वत स्तव', शुभसुन्दरगणिकृत 'यन्त्रमन्त्र-भेषजादिगर्भित युगादिदेव स्तव', भद्रबाहु का 'उवसग्गहर स्तोत्र', मानतुंगसूरि का 'नमिऊण' अपरनाम 'भयहरस्तोत्र', पूर्णकलशगणि का 'स्तम्भनपार्श्वस्तवन', मानदेवसूरि का 'लघुशांति स्तव', अरिष्टनेमि भट्टारक का 'श्रीदेवता-कल्प', अर्हद्दास का 'सरस्वती-कल्प', सिंहनन्दी का 'नमस्कार-मन्त्र-कल्प', 'णमोकार-मन्त्र-कल्प', 'चक्रेश्वरी-कल्प', 'सूरिमंत्र-कल्प', 'श्रीविद्या-कल्प', 'ब्रह्मविद्या-कल्प', 'रोगापहारिणी-कल्प' तथा पर्याप्त संख्या में मंत्र-स्तोत्र रचे गये हैं। इनमें अप्रकाशित ग्रन्थों की संख्या भी पर्याप्त है। जिनका सुसम्पादित होकर प्रकाशन अपेक्षित है।

आचार्य जिनसेन ने 'आदिपुराण' में तिरपन गर्भान्वय क्रियाओं (३८/५९-२०७) का वर्णन किया है। उसके बाद इन क्रियाओं की सिद्धि के लिए मंत्र कहे हैं। भूमिशुद्धि के बाद पीठिका मंत्र, जाति मंत्र, निस्तारक मंत्र, ऋषि मंत्र, सुरेन्द्र मंत्र, परमराजादि मंत्र और परमेष्ठी मंत्र लिखे गये हैं। आगे कहा गया है कि गर्भाधानादि क्रियाओं की विधि करने में ये मंत्र 'क्रियामंत्र' कहलाते हैं (४०/७८) तथा विधिपूर्वक

सिद्ध किये हुए ये ही मंत्र सन्ध्या के समय तीनों अग्नियों में देव-पूजनरूप नित्य कर्म करते समय 'आहुति मंत्र' कहलाते हैं (४०/७९)। इसके बाद गर्भाधानादि सोलह क्रियाओं के स्वतन्त्र मंत्र लिखे गये हैं। श्रावकों के सामाजिक जीवन, रीति-रिवाजों एवं धार्मिक क्रियाओं में काम आने वाले ये मंत्र आचार्य जिनसेन ने ही रचे थे, क्योंकि इससे पूर्व उनका क्या स्वरूप था, यह ज्ञात कर पाना कठिन है।

जैन परम्परा के विद्यानुवाद पूर्व एवं चूलिकाओं में उल्लिखित प्राचीन मंत्र-तंत्र और विद्याएँ तो प्राय: लुप्त हो गई। तद्विषयक जो साहित्य आज उपलब्ध हैं, वे तांत्रिक युग की देन माने जा सकते हैं। भारतीय इतिहास में एक ऐसा समय था जब चमत्कार को ही नमस्कार किया जाता था। उस काल में जैन परम्परा के पोषक भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। उन्होंने भी शक्तिधारक देवी-देवताओं (यक्ष-यक्षियों) की आराधना एवं सिद्धि द्वारा चमत्कार दिखलाये और साहित्य रचा। जिससे जैन धर्मावलम्बियों को एक सूत्र में बांधकर रखा जा सका। सम्प्रति मंत्र-तंत्र विद्या के साधकों का जैनों में अभाव होता जा रहा है। पुन: इस विद्या के विलुप्त होने का संकट बढ़ता जा रहा है। इसकी रक्षा एवं विकास करना हमारा (समाज का) पुनीत कर्तव्य है।

सन्दर्भ :

(क) समस्ता विद्या अष्टौ महानिमित्तानि तद्विषयो रज्जुराशिविधि: क्षेत्रं श्रेणी लोकप्रतिष्ठा संस्थानं समुद्घातश्च यत्र कथ्यते तद्विद्यानुवादम्। तत्राङ्गुष्ठ-प्रसेनादीनामल्पविद्यानां सप्तशतानि महारोहिण्यादीनां महाविद्यानां पंचशतानि। अन्तरिक्ष-भौमांग-स्वर-स्वप्न-लक्षण-व्यंजन-छिन्नानि अष्टौ महानिमित्तानि।- **तत्त्वार्थवार्तिक**, अकलंकदेव, १/२०, पृ० ७६.

(ख) विज्जाणुवादं णाम पुव्वं पण्हारसण्हं वत्थूणं १५ तिण्णि सेयपाहुडाणं ३०० एग-कोडि-दस-लक्ख-पदेहि ११०,००००० अंगुष्ठप्रसेनादीनां अल्पविद्यानां सप्तशतानि रोहिण्यादीनां महाविद्यानां पंचशतानि अन्तरिक्षभौमांगस्वरस्वप्न-लक्षणव्यंजनछिन्नान्यष्टौ महानिमित्तानि च कथयति। - **षट्खण्डागम**, वीरसेन, धवलाटीका पु० १/१/२, पृ० - १२२.

(ग) **अंगपण्णत्ति**, शुभचन्द्र, २/१०१-१०३.

(घ) **गोम्मटसार** (जीवकाण्ड), जी०त० प्रदी०गा० ३६५-६६ पृ० ६१०-११ (ज्ञानपीठ संस्करण)

(ङ) पं० खूबचन्द्र जैन, **गोम्मटसार** जीवकाण्ड की बालबोधिनी टीका, गा० ५६४-६५, पृ० १३९ (रायचन्द्र शास्त्रमाला, द्वितीय संस्करण)

(च) **कसायपाहुड**, जयधवलाटीका, भाग-१, पृ० १४४ (प्रथम संस्करण)

(छ) **हरिवंशपुराण**, जिनसेन -१०/११३-११४.

२. (क) चूलिया पंचविहा- जलगया थलगया मायागया रूवगया आगासगया चेदि। तत्थ जलगया दो-कोडि-णव-लक्ख-एऊण-णवुइ-सहस्स-बे-सद-पदेहि २०९८९२०० जलगमण-जलत्थंभण-कारण-मंत-तंत-तवच्छराणि वण्णेदि। थलगया णाम तेत्तिएहि-चेव-पदेहि २०९८९२०० भूमि-गमण-कारण-मंत-तंत तवच्छरणाणि वत्थु-विज्जं भूमि-संबंधमण्णं पि सुहासुह-कारणं वण्णेदि। मायागया तेत्तिएहि चेय पदेहि २०९८९२०० इंद-जालं वण्णेदि। रूवगया तेत्तिएहि चेय पदेहि २०९८९२०० सीह-हय-हरिणादि-रूवायारेण परिणमण-हेदु-मंत-तंत- तवच्छरणाणि चित्त-कट्ठे-लेप्प-लेण-कम्मादि-लक्खणं च वण्णेदि। आयासगया णाम तेत्तिएहि चेय पदेहि २०९८९२०० आगास-गमण-णिमित्त-मंत-तंत-तवच्छरणाणि वण्णेदि।-**षट्खण्डागम**, पुस्तक-१, १/१/२, पृ०११४.

(ख) **कसायपाहुड**, भाग-१, पृ० १३९.

(ग) **गोम्मटसार** (जीवकाण्ड), जी०त०प्रदी० गाथा - ३६२, पृ० ६०२ (ज्ञानपीठ संस्करण)

(घ) **अंगपण्णत्ति**, शुभचन्द्र, ३/१-९

३. शास्त्री, डॉ० नेमिचन्द्र, **प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास**, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, पृ० २५०.

४. शास्त्री, डॉ० नेमिचन्द्र, **मंगलमंत्र णमोकार : एक अनुचिन्तन**, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, पृ० १३२.

५. कापड़िया, एच०आर०, **जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास**, भाग-३, प्रका० मुक्तिकमल जैन मोहनमाला, बड़ौदा, सन् १९७०, पृ० २२४.

६. विद्याप्रवादपूर्वस्य तृतीयप्राभृतादयम् ।
उद्धृत: कर्मघाताय श्रीवीरस्वामिसूरिभि:॥ १/८

७. यद् यद् विचिन्त्यते कार्यं मनुजैरैहलोकिकम् ।
तत् तत् सम्पद्यते सद्यो मंत्रस्यास्य प्रभावत: ॥ ३/४०

८. अधिकार-५, श्लोक-१७.

९. अष्टाशतस्यैकषष्टि (८६१) प्रमाणशकवत्सरेष्वतीतेषु।
श्रीमान्यखेटकटके पर्वण्यक्ष (य) तृतीयायाम् ॥
ग्रन्थ प्रशस्ति **अनेकान्त**, वर्ष - १, पृ० ४३१ पर उद्धृत।

१०. कापड़िया, एच०आर०, **जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास**, भाग-३, पृ०' २२८.

११. शास्त्री, डा० नेमिचन्द्र, **तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा**, भाग-३, पृ० १८३.

१२. (क) **अनेकान्त**, वर्ष-१, पृ० ४२९, वीरसेवा मन्दिर, दरियागंज दिल्ली।
(ख) **जिनरत्नकोश**, पृ० ३५५.

१३. **जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास**, भाग-३, पृ० २२४-२५.

१४. 'फौजदार', डॉ० ऋषभचन्द्र जैन, **जैन सिद्धांत भवन ग्रन्थावली**, भाग-१, क्रमांक-७१९, भाग-२, क्रमांक-१३११.

१५. **जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास**, भाग-३, पृ० २३२.

१६. वही, पृ० २३०.

१७. **तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा**, भाग-३, पृ० १७६.

१८. **जैन सिद्धान्त भवन ग्रन्थावली**, भाग-१, क्रमांक-७६५.

१९. सांख्यभौतिकचार्वाकमीमांसकदिगम्बराः।
सौगतास्तेऽपि देवि! त्वां ध्यायन्ति ज्ञानहेतवे १/१९.

२०. **जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास**, भाग-३, पृ० २३४.

२१. **तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा**, भाग-३, पृ० १७७.

२२. **अनेकान्त**, वर्ष-१, पृ० ४३० पर उद्धृत।

२३. **जैनस्तोत्र सन्दोह**, भाग-२, सम्पादक मुनि चतुरविजय, प्रकाशक-साराभाई मणिलाल नबाव, अहमदाबाद, सन् १९३६.

२४. **जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास**, भाग-३, पृ० २३९.

२५. वही, पृ० २४०-४१.

२६. जैने पद्मावर्तीति त्वशुभदलना त्वं च गौरीति शैवे,
तारा बौद्धागमे त्वं प्रकृतिरिति मता देवि! सांख्यागमे त्वम् ।
गायत्री भट्टमार्गे त्वमसि च विमले कौलिके त्वं च वज्रा,
व्याप्तं विश्वं त्वयेति स्फरदुरुयशसे मेऽस्तु पद्मे! नमस्ते।। - **अद्भुत-पद्मावती-कल्प**, ५/६

२७. **जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास**, भाग-३, पृ० २४३.

२८. **जैन सिद्धांत भवन ग्रन्थावली**, भाग-१, क्र० ५५०/२, पृ० ९४ तथा २००.

श्रमण, वर्ष ५८, अंक २-३
अप्रैल-सितम्बर २००७

तप : साधन और समाधान

डॉ० रज्जन कुमार*

'तप' भारतीय योग परम्परा का आधार है। जीवन की सभी अपेक्षाओं, यथा भौतिक एवं आध्यात्मिक को तप पूर्णता प्रदान करने की क्षमता रखता है। इसे मानव जीवन का सर्वांगीण विकास प्रदाता स्वीकार किया गया है। साधु, संन्यासी, साधक, गृहस्थ सभी तप का अभ्यास कर सकते हैं। तप सबको उनके लक्ष्य तक पहुँचाने की शक्ति रखता है।

तप का अर्थ

'तप' का अर्थ होता है - तपाना। 'तपाना' मतलब जलाना, नष्ट करना, खत्म करना आदि। तप के द्वारा देह, इंद्रिय, मन आदि सबको तपाया जाता है। तपाने की इस प्रक्रिया में व्यक्ति अपनी विषय-वासनाओं को नष्ट करता है। विषय-वासनाओं के नष्ट होने से क्रमशः मन-इंद्रिय-शरीर की शुद्धि होती है। आत्मसिद्धि के लिए एवं भौतिक विकास के लिए इसे आवश्यक माना गया है। गीता में दैहिक, वाचिक, मानसिक तप का उल्लेख करते हुए मनुष्य को सात्त्विक तप को अपनाने के लिए प्रेरित किया गया है।[२] पुनश्च गीता में राजसिक एवं तामसिक तप का भी विवेचन हुआ है। राजसिक तप को मान, प्रतिष्ठा एवं प्रलोभन से युक्त माना गया है, वहीं तामसिक तप को पीड़ादायक कहा गया है।[३] उपनिषदों ने तप के अर्थ को विश्लेषित करते हुए ऋत, सत्य, श्रुत, शांति, दान आदि को ही तप मान लिया है।[३] बौद्ध परम्परा में यद्यपि प्रारंभ में जैसा कि विद्वानों ने स्पष्ट किया है कि बुद्ध ने तप का अर्थ देह-दमन माना, परंतु बाद में उन्होंने तप का अर्थ मात्र देह-दमन नहीं किया। इस संबंध में डॉ० राधाकृष्णन् का कथन द्रष्टव्य है - सैद्धांतिक रूप में बुद्ध ने तप के बिना भी निर्वाण-प्राप्ति की संभावना को स्वीकार किया है, किंतु व्यावहारिक रूप में वे प्रायः सबके लिए तप आवश्यक मानते हैं।[४] जैन मंतव्य में तप को निर्जरा का सम्यक् साधन माना गया है।[५] इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि वासनाओं को क्षीण करने तथा समुचित आध्यात्मिक शक्ति की साधना के लिए शरीर, इन्द्रिय और मन को जिन-जिन उपायों से तपाया जाता है वे सभी तप कहे जाते हैं। वस्तुतः तप वह साधन एवं सिद्धांत

* *रीडर एवं अध्यक्ष, अनुप्रयुक्त दर्शनशास्त्र, म०ज्यो०फु०रुहेलखण्ड वि०वि०, बरेली*

है जिसकी सहायता से शरीर एवं इंद्रियों की शुद्धि एवं सिद्धि होती है।[६] तप के इस अर्थ को स्वामिकार्त्तिकेय ने इस प्रकार विवेचित किया है - 'तप का तात्पर्य अपनी इंद्रियों के विषयों को तपाकर आत्मशुद्धि करने से है। तप की आराधना अनेक प्रकार के काय-क्लेषों द्वारा होती है जिनमें इहलोक या परलोक के सुख की अपेक्षा नहीं होती।'[७]

तप, तपश्चर्या और समाधान

तप का अभ्यास तपश्चर्या के नाम से जाना जाता है। तप के ज्ञान मात्र से तप के फल की प्राप्ति शायद ही कभी संभव हो। यही कारण है कि जहाँ कहीं भी तप का उल्लेख हुआ है वहाँ प्राय: तपश्चर्या अथवा तपस्या के विधान पर भी चिन्तन हुआ है। वैदिक ऋचाओं में एक तरफ 'ऋत्' और 'सत्' की उत्पत्ति के लिए 'तपस्या' को कारण माना गया है[८] तो दूसरी तरफ 'आत्मा को तप से तेजस्वी करने' का संदेश भी दिया गया है। वस्तुत: तप एवं तपश्चर्या की यह धारणा वैदिक परम्परा में विवेचित 'यज्ञ' के विधान के साथ परिस्थिति वशात् सम्मिलित होकर ज्ञानाराधना के रूप में आयोजित होने लगी।[९०] बाद में तप का स्वरूप परिवर्तित हुआ और तपस्या का अर्थ देह-दमन के रूप में प्रायोजित होने लगा। पुनश्च आध्यात्मिक-उत्क्रान्ति के युग में तप इंद्रिय-दमन का सबल साधन बन गया। इस प्रकार तपस्या देह-दमन और इंद्रिय-दमन के लिए सेवन किया जाने लगा। उपनिषद् काल में तप के इस विधान को ब्रह्म के साथ एकाकार करके यह विचार प्रस्तुत किया गया कि तप के द्वारा ही ब्रह्म प्रबुद्ध होता है।[११] तपस्वी को तप के साथ श्रद्धायुक्त होना अपेक्षित है।[१२] आगे चलकर तप का यह चिंतन शुद्धि, सिद्धि एवं लक्ष्य प्राप्ति के साधन के रूप में रूढ़ हुआ जिसमें शरीर-दमन के साथ-साथ ऐन्द्रिक विषयों को जीर्ण करने का भाव संपृक्त हो गया। इस प्रकार तपस्या के लिए श्रद्धा का होना आवश्यक माना जाने लगा।

चित्तशुद्धि आध्यात्मिक-विकास के लिए अनिवार्य अपेक्षा है। चित्तशुद्धि के लिए सतत प्रयत्न करना ही बौद्धों के लिए तप है। तप एवं तपश्चर्या के रूप में बौद्धों ने विविध प्रकार के विधान प्रस्तुत किए हैं। तप को ब्रह्मचर्य, चार आर्यसत्य, निर्वाण के समान मंगलकारी माना गया है।[१३] आत्मा की अकुशलवृत्तियों एवं पापवासनाओं को नष्ट करने हेतु तपस्या का विधान प्रस्तुत किया गया है।[१४] जैसा कि यह विदित है कि - प्रारंभ में बुद्ध ने देह-दमन के लिए तप का अभ्यास किया था, परंतु जब उन्हें उससे समस्या का समाधान प्राप्त नहीं हुआ, तब उन्होंने मध्यम-मार्ग का प्रतिपादन किया। इस आधार पर यह चिंतन प्रस्तुत किया जाता है कि बुद्ध की तपस्या में शारीरिक यंत्रणा का भाव नहीं था। किन्तु वह सर्वथा सुखसाध्य भी नहीं था। तप

एवं तपश्चर्या के संबंध में बुद्ध का जो भी मंतव्य रहा हो, लेकिन हमें त्रिपिटक साहित्य में तप एवं तपस्या के विविध रूपों का दिग्दर्शन अनेक स्थलों पर मिलता है।[१५]

तप और तपश्चर्या जैन परम्परा का मूलाधार है। मोक्ष जिसे चरम लक्ष्य माना जाता है, जैनों के मतानुसार इसकी प्राप्ति तप एवं तपस्या के द्वारा ही संभव है। निर्वाण प्राप्ति हेतु कर्मों को निर्जरित करना पड़ता है। तप से समस्त कर्मों की निर्जरा होती है।[१६] तप से शरीर एवं इन्द्रियों का संयम सधता है। इस हेतु जो भी शारीरिक कष्ट उठाया जाता है, वही तप है।[१७] तप के अभ्यास से आत्मा परिशुद्ध होती है।[१८] वस्तुत: तपस्या के अनुक्रम में जो भी शारीरिक कष्ट भोगा जाता है उसके पीछे इन्द्रिय-दमन का उद्देश्य निहित रहता है। शारीरिक, प्राकृतिक अथवा अन्यकृत पीड़ा एवं कष्ट को सहन करने की सामर्थ्य प्राप्त करना ही तप अथवा तपश्चर्या का मूल मंतव्य है। इसके पीछे यह भाव रहता है कि मन हमेशा पवित्र रहे, इन्द्रियों की विकार-शक्तियों का ह्रास हो एवं दैनिक चर्या में शिथिलता न आने पाए।

तप के प्रकार

आवश्यकतानुसार तप के विभेद किए गए हैं। जैन परम्परा में इस हेतु - बाह्य और आभ्यन्तर तप का उल्लेख है। बौद्धों ने तप का वर्गीकरण तप की श्रेष्ठता एवं निकृष्टता को आधार बनाकर किया है। वैदिक परम्परा में इन सबसे अलग मनुष्य की दैहिक, वाचिक एवं मानसिक अवस्था को आधार बनाते हुए तप को वर्गीकृत करने का प्रयत्न हुआ है। वस्तुत: तप के ये भेद शारीरिक विकारों एवं मानसिक वृत्तियों के दमन करने के उद्देश्य व साधकों को मतिभ्रम से पृथक् रखने हेतु किया गया प्रतीत होता है। तप के विविध प्रकार क्रमश: अभ्यास करने योग्य नहीं हैं। अगर हम शारीरिक-विकारों को नष्ट करते हैं और ऐन्द्रिक वृत्तियों पर रोक नहीं लगाते हैं तो हमारा यह तपाभ्यास अधूरा एवं निष्प्रयोज्य ही माना जाएगा, क्योंकि इन्द्रियाँ दैहिक-विकार को कभी शान्त नहीं होने देंगी। यही बात आगे भी प्रयुक्त मानी जा सकती है। फिर भी तप के जो विविध भेद विवेचित हैं उनका अपना महत्त्व है और तपश्चर्या की दिशा में एक मूलभूत योगदान भी है।

जहाँ तक वैदिक परम्परा का प्रश्न है यहाँ तप का वर्गीकरण नहीं किया गया है। साधना की उग्रता, कालगत अवधि एवं इसी तरह के अन्यान्य कारणों के आधार पर उग्र तप, मध्यम तप, मृदु तप आदि के रूप में तप के विविध भेद अवश्य मिलते हैं। इनके अतिरिक्ति तप को वर्गीकृत करने का कोई और आधार वैदिक परम्परा में रहा हो तो इस दिशा में विशेष चिन्तन-मनन की अपेक्षा से इन्कार नहीं किया जा सकता है। इसी अनुक्रम में गीता का उद्धरण प्रस्तुत किया जा सकता है, जहाँ तप

के तीन प्रकार - दैहिक, वाचिक, मानसिक एवं तामसिक, राजसिक और सात्त्विक तप का विवरण प्रस्तुत किया गया है।[१९] दैहिक तप के अंतर्गत पवित्रता, सरलता तथा ज्ञानीजनों की पूजा-सेवा करने की प्रवृत्ति का होना और वाणी विषयक तप के अंतर्गत स्वाध्याय, अकषायी तथा सुभाषी होना आवश्यक है। मानसिक प्रसन्नता, भगवद्-चिंतन, शांति, मनोनिग्रह और पवित्रता को मानसिक तप कहा गया है। अहिंसा, सत्य तथा ब्रह्मचर्य का निष्कामभाव से पालन करना सात्त्विक तप है। मान, प्रतिष्ठा या अन्य प्रलोभनवश तप करना राजसिक तप है। स्वयं को तथा अन्य को तप द्वारा पीड़ा पहुँचाना तामसिक तप है। सात्त्विक तप सभी तपों में श्रेष्ठ है। यही आत्मशुद्धि का सर्वश्रेष्ठ साधन है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वैदिक परम्परा में तप को वर्गीकृत करते हुए इसे आत्मशुद्धि का सर्वश्रेष्ठ साधन माना गया है जो अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, मनोनिग्रह, भगवद्-चिंतन, पूजा-अर्चन, स्वाध्याय, अकषाय, पवित्र-भावना, सरलता, शांति जैसे सद्गुणों से परिपूर्ण होता है।

बौद्धों ने तप का आश्रय चित्तशुद्धि के लिए लिया है। तप को यहाँ चित्तशुद्धि के सतत् प्रयत्न के रूप में व्याख्यायित किया गया है। यहाँ यह भी बताने का प्रयत्न हुआ है कि तप करने से कुशल धर्म बढ़ते हैं तथा अकुशल धर्म घटते हैं।[२०] यही कुशल और अकुशल धर्म तथा इनका संयमन एवं उच्छेदन बौद्ध परम्परा में तप को वर्गीकृत करने का मुख्य कारक बनता है। बौद्धों ने तप के चार प्रकार बताए हैं[२१]- आत्मन्तप, परन्तप, आत्मन्तप-परन्तप एवं न आत्मन्तप-न परन्तप। आत्मन्तप में स्वयं को कष्ट दिया जाता है। परन्तप में दूसरों को पीड़ा पहुँचायी जाती है। तृतीय प्रकार के तप में स्वयं एवं दूसरों को साथ-साथ कष्ट पहुँचाया जाता है। चौथे प्रकार में न तो स्वयं को कष्ट दिया जाता और न दूसरों को ही कष्ट प्रदान किया जाता है। तप का यही चतुर्थ स्वरूप बुद्ध को स्वीकार्य रहा है। वस्तुत: तप आत्मशुद्धि का वह सर्वसुलभ साधन है जिसे अपनाते हुए स्व और पर किसी को भी किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता।

जैन मत में तप के दो प्रकार हैं - (क) बाह्य तप और (ख) आभ्यन्तर तप। बाह्य तप छह प्रकार के हैं - १. अनशन, २. अवमौदर्य, ३. वृत्तिपरिसंख्यान, ४. रस-परित्याग, ५. विविक्तशय्यासन तथा ६. कायक्लेश। आभ्यन्तर तप के भी छह भेद हैं - ७. प्रायश्चित्त, ८. विनय, ९. वैयावृत्य, १०. स्वाध्याय, ११. व्युत्सर्ग और १२. ध्यान।[२२] बाह्य तप का उद्देश्य शारीरिक विकारों को नष्ट कर इन्द्रियसंयम को प्राप्त करना है। आभ्यंतर तप द्वारा कषाय, प्रमाद, आदि विकारों को नष्ट किया जाता है। बाह्य तप आंतरिक तप में सहायक या पूरक होते हैं। जैन विवेचित कुल बारह प्रकार के तपों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है - अनशन का अर्थ आहार-

त्याग से है जो विशिष्ट अवधि के लिए अथवा आजीवन आहार-त्याग से संबंधित है। अवमौदर्य (ऊनोदरी) भूख से कम आहार ग्रहण करना है। वस्तुओं के प्रति लालसा को कम करना वृत्तिपरिसंख्यान है। दूध, घी, मधु तथा इसी तरह के अन्यान्य रसों का त्याग करना रस-परित्याग है। साधनादि में बाधा उत्पन्न करने वाले कारणों के निवारणार्थ विविध तपों का अभ्यास विविक्तशय्यासन कहलाता है। शरीर को शीत, उष्ण एवं विविध आसनों के द्वारा कष्ट पहुँचाना कायक्लेश है। व्रत-नियम के भंग होने पर दोष-परिहार हेतु प्रायश्चित्त तप किया जाता है। अनुशासन, आत्मसंयम, नम्रता आदि सद्व्यवहार, विनय तप है। सेवाशुश्रूषा वैयावृत्य है। अध्ययन, मनन आदि स्वाध्याय है। त्याग करना व्युत्सर्ग है। चित्त की चंचल वृत्तियों पर रोक लगाना एवं मन को एक स्थान पर केन्द्रित करना ध्यान तप है। वस्तुत: जैन मत में विवेचित तप के विविध प्रकार संयम एवं भाव की मर्यादा को नियमित करने में सहायक होते हैं जो अशुभ कर्म को नष्ट करके मनुष्य को आत्मशुद्धि का पथ प्रदान करते हैं।

तप, आसन और समाधान

तपाराधना संकल्पशक्ति से निष्पन्न होती है। योगांगों में आसन वह सर्वश्रेष्ठ साधन है जहाँ से व्यावहारिक रूप में तप के अभ्यास का प्रारम्भ होता है। क्योंकि तपश्चर्या हेतु साधक को किसी न किसी स्थिति में शरीर को साध कर रखना पड़ता है। आसन के संबंध में कहा गया है - सुखपूर्वक अधिकतम समय तक स्थिर होकर शरीर को साधना ही आसन है।[२३] प्रणेताओं ने यह स्पष्ट किया है कि तप हेतु उसी आसन का चयन करना चाहिए जो स्थिर एवं सुखद हो। आसन, मन तथा शरीर दोनों को नियंत्रित करके आत्मा को शक्ति प्रदान करता है जिसे तप के लिए अनिवार्य माना गया है।[२४] इसके बिना तप का अभ्यास अथवा प्रारम्भ शायद हीं संभव हो। स्वामी स्वात्माराम ने आसन के संबंध में यह बताया है कि आसन न केवल शरीर को स्वस्थ रखता है, बल्कि यह शरीर के भारीपन को दूर कर उसे आलस्य-मुक्त रखता है।[२५] बौद्ध चिन्तकों ने आसन को तपश्चर्या के लिए अनिवार्य माना है। जैनमत में तो आसन और तप के बीच एक अविभाज्य संबंध स्वीकार किया गया। यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि जिस आसन द्वारा मन स्थिर होता है उसी आसन का उपयोग तपाराधना के लिए उपयुक्त है।[२६]

आसनों के कई प्रकार हैं। मान्यता यह भी है कि संसार में जितने प्रकार के जीव हैं उतने ही प्रकार के आसन भी हैं। वैदिक परम्परा में यद्यपि यह स्पष्ट किया गया है कि 'स्थिर सुखमासनं' फिर भी तपश्चर्या हेतु पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, दण्डासन, पर्यंकासन जैसे आसनों का नामेल्लेख किया गया है।[२७] बौद्ध परम्परा में पद्मासन, बुद्धासन, सिद्धासन, वज्रासन आदि आसनों के प्रयोग का निर्देश है।[२८] जैन

चिन्तकों ने किसी अमुक आसन को किसी तप विशेष हेतु आवंटित तो नहीं किया है, फिर भी यहाँ तपश्चर्या हेतु पर्यंकासन, वीरासन, वज्रासन, पद्मासन, भद्रासन, दण्डासन, उत्कटिकासन, गौदोहासन, कायोत्सर्ग आदि को तपश्चर्या हेतु अधिक उपयुक्त माना है।[२९]

तप, प्राणायाम और समाधान

प्राणायाम तपश्चर्या का एक महत्त्वपूर्ण घटक है। प्राण का नियंत्रण प्राणायाम है। मन की चंचलता को दूर करने में प्राणायाम का योगदान अतुलनीय है। तपश्चर्या हेतु मन की एकाग्रता अनिवार्य है। वस्तुत: प्राण को जीवनाधार माना गया है। यह **प्राणवायु** के रूप में परिलक्षित होता है जिसे जीव आवश्यकतानुसार ग्रहण करता है और उसका निष्कासन भी करता रहता है। वायु के ग्रहण और निष्कासन की प्रक्रिया श्वसन-क्रिया है। इसी श्वसन-प्रक्रिया को नियंत्रित करना प्राणायाम कहलाता है। प्राणायाम प्राणवायु को विस्तारित करता है। यह तीन चरणों में पूर्ण होता है - पूरक, कुम्भक एवं रेचक। पूरक - वायु का ग्रहण, कुम्भक - ग्रहीत वायु को रोकना और रेचक - भीतर की वायु को बाहर फेंकना है।[३०] प्राणायाम चित्त-संस्कारों को स्थिर बनाकर अविद्या आदि क्लेशों को नष्ट कर विवेकख्याति को प्राप्त कराने में सहायक माना गया है।[३१] वैदिक मंतव्य में विवेकख्याति ही ज्ञान का चरमोत्कर्ष है और प्रकारान्तर से इसे ही तप का परम उत्स स्वीकार किया गया है। बौद्धमत में प्राणायाम 'आनापानस्मृति' के नाम से जाना जाता है। इसके अभ्यास से कर्मस्थान की भावना सिद्ध होती है जो तप का ही प्रतिरूप है। इसकी सहायता से बौद्ध धर्म के सिद्धपुरुष विशेष फल को प्राप्त करते हैं।[३२] जैन चिंतन में प्राणायाम तपश्चर्या का एक प्रमुख साधन माना गया है। मन को संक्लेषित करने एवं शरीर को साधने वाला प्रमुख अंग प्राणायाम तपश्चर्या का आधार है।[३३]

विभिन्न परम्पराओं में भिन्न-भिन्न प्रकार के प्राणायामों का उल्लेख किया गया है जो तपश्चर्या में सहायक माने जाते हैं। पतंजलि ने बाह्यवृत्तिक, आभ्यंतरवृत्तिक, स्तम्भवृत्तिक, बाह्यान्तर विषयापेक्षिक नामक चार प्रकार के प्राणायाम बताए हैं।[३४] आचार्य घेरण्ड ने सहित, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा तथा केवली नामक आठ प्रकार के प्राणायाम का उल्लेख किया है।[३५] बौद्ध परम्परा में प्राणायाम के स्पष्ट भेद का उल्लेख प्राय: नहीं हुआ है, परंतु आनापानस्मृति कर्मस्थान के रूप में प्राणायाम के विविध क्रिया-विधियों का विवेचन अवश्य उपलब्ध है। जैनमत में प्रत्याहार, शान्त, उत्तर एवं अधर नामक चार प्रकार के प्राणायाम बताए गए हैं।[३६] प्राणायाम के ये सभी प्रकार शरीर में पाए जाने वाले विभिन्न प्रकार के वायु को नियंत्रित कर मन की चंचलता को नियंत्रित करते हैं। मन की चंचलता पर नियंत्रण

किए बिना तप का अभ्यास शायद ही संभव हो। मन और वायु के बीच घनिष्ठ संबंध है। वायु के कई प्रकार हैं, परंतु शरीर स्थित वायु के पाँच भेदों का उल्लेख शास्त्रों में उपलब्ध है जिन्हें प्राणायाम के द्वारा नियंत्रित किया जाता है। ये पाँच वायु के प्रकार हैं[३७] - प्राण, अपान, समान, उदान एवं व्यान।

नासिका द्वारा श्वास-प्रश्वास के रूप में संचरित होने वाला वायुप्राण है। शरीर के मल-मूत्रादि को बाहर फेंकने वाला वायु अपान है। भोजन-रस को शरीर के विभिन्न भागों में पहुँचानेवाला समानवायु है। भोजनरस को शरीर के ऊपरी भाग में ले जाने वाले वायु को उदान कहते हैं। सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त वायु को व्यान कहते हैं। प्राणवायु हरे रंग का, अपान काले रंग का, समान श्वेत वर्ण वाला, उदान लाल रंग का तथा व्यानवायु इन्द्रधनुषी वर्ण का माना गया है। शरीर के विभिन्न स्थलों पर इन वायु का स्थान भी निर्धारित है। प्राणवायु नासिका के अग्रभाग, हृदय, नाभि, पैर के अंगुठे तक फैला रहता है। अपानवायु गर्दन के पीछे की नाड़ी, पीठ, गुदा और एड़ी में स्थित होता है। समानवायु हृदय, नाभि तथा शरीर के सभी सन्धि स्थलों में विचरित होता है। उदानवायु हृदय, कण्ठ, तालु, भृकुटि-मध्य तथा मस्तक में स्थित होता है। व्यानवायु सम्पूर्ण त्वचा में स्थित रहता है।[३८]

अत: स्पष्ट है कि वायु को नियंत्रित करके सम्पूर्ण शरीर पर नियंत्रण रखा जा सकता है। शरीर-नियंत्रण का अर्थ इन्द्रिय-नियंत्रण भी है। इन दोनों के नियंत्रण से तपश्चर्या की दिशा में शांतिपूर्वक विकास कर आध्यात्मिकता की चरम-अवस्था को भी प्राप्त किया जा सकता है। यह पूर्व में ही बताया जा चुका है कि वायु का नियंत्रण ही प्राणायाम है जो रेचक, कुम्भक और पूरक के रूप में संपन्न होता है। प्राणायाम की इस क्रिया के द्वारा वायु के इन प्रकारों को नियंत्रित करके तपश्चर्या के मार्ग को निष्कंटक बनाया जाता है।

तप, ध्यान और समाधान

तपश्चर्या में ध्यान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ध्यान मन को चंचलता, विकलता से हटाकर आत्मा की ओर केन्द्रित करता है जिसका अवसान समाधि माना गया है। वस्तुत: तप का उत्स भी प्रकारान्तर से समाधि ही माना जाता है, क्योंकि तपस्वी को वैरागी कहा जाता है। वैरागी वही कहलाता है जो संस्कार रूपी वासना को निर्मूल नष्ट कर लेता है। वस्तुत: समाधि की पूर्ण अवस्था भी इसी स्थिति की द्योतक है। महर्षि पतंजलि ने यह स्पष्ट किया है कि ध्यान के निरंतर अभ्यास से संस्कारों का अभाव हो जाता है और यह अवस्था निर्बीज समाधि है।[३९] बौद्ध परम्परा में चित्त-कुशलों को स्थिर करना ही ध्यान माना गया है। यही ध्यान निर्वाण प्राप्त करा सकता है। ध्यान ही मनुष्य को चार आयतनों- आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानान्त्यायतन,

अकिंचन्नायतन एवं नैवसंज्ञानासंज्ञायतन से पार कराकर 'भवाग्र' तक पहुँचाता है जो निर्वाण के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।[४०] जैनों ने ध्यान को चित्त-एकाग्रता के रूप में विवेचित करते हुए इसे निर्जरा एवं संवर का कारण बताया है। जो अंतत: मोक्ष प्राप्ति का कारण बनता है।[४१]

तप और ध्यानाभ्यास में मूलत: भेद नहीं माना गया है। चिंतकों ने ध्यान के पर्याय के रूप में तप, समाधि, निरोध, स्वान्तनिग्रह, अंत:संलीनता, साम्यभाव, समरसीभाव, सवीर्य-ध्यान जैसे शब्दों का प्रयोग किया है।[४२] वस्तुत: तप अथवा ध्यान का एकमात्र प्रयोजन कुत्सित विचारों अथवा बुरे संस्कारों को क्षीण करना एवं आत्मानुभूति को प्राप्त करना माना गया है। ध्यान अथवा तप की पूर्णता हेतु तीन बातें अपेक्षित हैं - १. ध्याता, २. ध्येय और ३. ध्यान।[४३] ध्याता अर्थात् ध्यान करनेवाला, ध्येय अर्थात् आलम्बन तथा ध्यान अर्थात् एकाग्रचिन्तन। इन तीनों की एकात्मकता ही ध्यान अथवा तप है। ध्यान, तप एवं आत्मा के बीच समन्वय स्थापित करते हुए यह कहा गया है[४४] - आत्मा, अपनी आत्मा के लिए अपनी आत्मा को अपनी आत्मा में, अपनी आत्मा के द्वारा, अपनी आत्मा के हेतु से, अपनी आत्मा का ही ध्यान करता है।

आत्मचिंतन रूप इस ध्यान से केवल आत्मतत्त्व का ही अनुभव होता है।[४५] इस अवस्था में सभी प्रकार के संस्कारों का नाश हो जाता है। व्यक्ति समस्त राग-द्वेषों से ऊपर उठकर चित्त-स्वरूप आत्मा के ही ध्यान में निमग्न हो जाता है। वैदिक मत में इसे विवेकख्याति का उदय, बौद्धमत में अर्हत् अथवा प्रज्ञा पारमिता का उदय एवं जैन परम्परा में 'अयोग' नामक स्थिति का प्रकट होना माना गया है। ये सभी अवस्थाएँ परमनिर्वाण की ही अवस्थायें हैं।

'तप' के सिद्धांत एवं प्रयोग द्वारा मानवीय समस्याओं का समाधान स्पष्ट है। तप का उद्देश्य कायक्लेश अथवा देह-दमन मात्र नहीं है, बल्कि इंद्रिय-वृत्तियों का संयम तथा मन की शुद्धि करना है जिसकी सहायता से आत्म-विकास के चरम ध्येय को प्राप्त किया जा सके।

संदर्भ :

१. **भगवद्गीता,** १७/१४-१६; १७-१९.
२. सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्। वही १७/१७;
मूढ़ग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तप:। वही १७/१९.
३. **नारायणोपनिषद्,** १०/८.
४. **इंडियन फिलास्फी,** I, पृ० ४३६.

५. तपसा निर्जरा च। **तत्त्वार्थसूत्र,** ९/३.

६. कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात् तपसः।। **योगदर्शन,** २/४३.

७. इहपरलोयंसुहाणं णिरवेक्खो जो करेदि समभावो।
विविहं कायंकिलेसं तवधम्मो णिम्मलो तस्स।। **कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा,** ४००.

८. ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत्। **ऋग्वेद,** १०/१९०/१.

९. अजो भागस्तपसा तं तपस्व। वही, १०/१६/४.

१०. तपसा ब्रह्मजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। ... **तैतिरीय आरण्यक,** ९/२.

११. तपसा चीयते ब्रह्म ..... **मुण्डकोपनिषद्,** १/१/८.

१२. तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्ति। वही, १/२/११.

१३. तपो च ब्रह्मचरियं च, अरियसच्चान दस्सनं।
निब्बाणं सच्छिकिरिया च एतं मंगलमुत्तमं।। **महामंगलसुत्त,** १०.

१४. **बुद्धलीलासार संग्रह,** पृ० २८०.

१५. **दीघनिकाय,** ३/२; **मज्झिमनिकाय,** १/२/२.

१६. तपसा निर्जरा च। **तत्त्वार्थसूत्र,** ९/३.

१७. अनिगूहितवीर्यस्य मार्गाविरोधि कायक्लेशस्तपः। **सर्वार्थसिद्धिः,** ६/२४.

१८. तवेण परिसुज्झई। **उत्तराध्ययनसूत्र,** २८/३५.

१९. **भगवद्गीता,** १७/१४-१९.

२०. **अंगुत्तरनिकाय, दिट्ठिवज्जासुत्त।**

२१. **मज्झिमनिकाय,** २/५/४; २/१/१.

२२. **उत्तराध्ययनसूत्र,** ३०/७; **तत्त्वार्थसूत्र,** ९/१९; ९/२०.

२३. स्थिर सुखमासनम्। **योगदर्शन,** २/४६.

२४. तस्मा आसनामाहृत्य। **बृहदारण्यक उपनिषद्,** ६/२/४.

२५. हठस्य प्रथमांगत्वादासानं, पूर्वमुच्यते।
कुर्यात्तदासनं स्थैर्यमारोग्यं चांगलाघवम्।। **हठयोगप्रदीपिका,** १/१७.

२६. जायते येन येनेह विहितेन स्थिरं मनः।
तत्तदेव विधातव्यमासनं ध्यान-साधनम्।। **योगशास्त्र** (हेमचन्द्र), ४/१३४.

२७. **योगदर्शन,** व्यासभाष्य, पृ० ४८०.

२८. **बौद्धदर्शन,** पृ० २३.

२९. पर्यंक-वीर-वज्राब्ज-भद्र-दण्डासनानि च।
उत्कटिका-गोदोहिका कायोत्सर्गस्तथासनम्।। **योगशास्त्र** (हेम०), ४/१२४.

३०. त्रिधा लक्षणभेदेन संस्मृतः पूर्वसूरिभिः।
पूरकः कुम्भकश्चैव रेचकस्तदनन्तरम्।। **ज्ञानार्णव,** २६/४३.

३१. ततः क्षीयते प्रकाशाऽऽवरणम् ।। **योगदर्शन,** २/५२.

३२. **मज्झिमनिकाय,** २/२/२; **विसुद्धिमग्ग,** पृ० २६९.

३३. **योगशास्त्र** (हेम०), ६/४-५; **योगशास्त्र एक परिशीलन** (अमरमुनि), पृ० ४१.

३४. **योगदर्शन,** २/५०-५१.

३५. सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायीशीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा केवली वाष्टकुंभकाः। **घेरण्डसंहिताः** ५/४५.

३६. प्रत्याहारस्तथा शान्त उत्तरश्चाधरस्तथा।
एभिर्भेदश्चतुर्भिस्तु सप्तधा कीर्त्यते परैः।। योगशास्त्र (हेम०), ५/५.

३७. वहीं, ५/१३; १४-२०.

३८. दिगे, अर्हतदास बन्डोवा, उद्धृत **जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन,** पृ० १४९.

३९. तेद्भ्यासपूर्वकंहि चित्तं निरालम्बनमभावप्राप्तमिव भवतीत्येष निर्बीजः समाधिसम्प्रज्ञातः। योगदर्शन (व्यासभाष्य), १/५१.

४०. **अभिधर्मकोश,** पृ० ५०.
भवाग्रासंज्ञिसत्त्वाश्च सत्यावासा नव स्मृताः। वही, ३/६.

४१. चित्तसेग्गया हवइ झाणं, **आवश्यकनिर्युक्ति,** १४५९;
तद्ध्यानं निर्जरा-हेतुः संवरस्य च कारणम्। **तत्त्वानुशासन,** ५६.

४२. योगो ध्यानं समाधिश्च धी-रोधः स्वान्तनिग्रहः।
अन्तःसंलीनता चेति तत्पर्यायाः स्मृता बुधैः।। (**आर्ष** २१/१२); **तत्त्वानुशासन,** पृ० ६१.

४३. ध्यानं विधित्सता ज्ञेयं ध्याता ध्येयं तथा फलम् - **योगशास्त्र,** (हेम०), ७/१.

४४. दिगे, अर्हतदास बन्डोवा, जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ० १६१.

४५. तदेवाऽर्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।। **योगदर्शन,** ३/२.

*

श्रमण, वर्ष ५८, अंक २-३
अप्रैल-सितम्बर २००७

निरयावलिया-कल्पिका : एक समीक्षात्मक अध्ययन

डॉ० सुधा जैन*

प्राचीन काल से आगमों का विभाजन अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य रूप में सर्वमान्य है। उपांग अंगबाह्य साहित्य है जिसको आचार्य देववाचक ने कालिक और उत्कालिक के रूप में विवेचित किया है। बारह अंगों की भाँति बारह उपांगों का उल्लेख प्राचीन आगमों में उपलब्ध नहीं होता। 'नन्दीसूत्र'[१] में कालिक और उत्कालिक रूप में उपांगों का उल्लेख मिलता है। उपांग शब्द भी नन्दी के पश्चात् ही प्रयुक्त हुआ है। नन्दी में तो उपांग के अर्थ में अंगबाह्य शब्द आया है। आचार्य उमास्वाति ने जिनका काल पं० सुखलाल जी ने पहली से चौथी शताब्दी के मध्य माना है[२] 'तत्त्वार्थभाष्य' में अंग के साथ उपांग शब्द का भी प्रयोग किया है। उपांग से उनका तात्पर्य अंगबाह्य आगमों से ही है।[३] आचार्य जिनप्रभ ने ई० सन् १३०६ में 'विधिमार्गप्रपा'[४] ग्रन्थ में आगमों के स्वाध्याय की तपोविधि का वर्णन किया है जिसमें ग्रन्थों के नाम मिलते हैं। इसी के अन्तर्गत 'इयाणिं उवंगा' लिखकर जिस अंग का जो उपांग है उसका उल्लेख किया गया है।[५] किन्तु बारहवाँ अंग उपलब्ध नहीं है इसलिए उसका उपांग भी नहीं है, अत: भगवती के दो उपांग मान कर ग्यारह अंग और बारह उपांग की संगति बैठाने का प्रयत्न किया है।[६] पं० बेचरदास जी दोशी के अनुसार चूर्णि साहित्य में भी उपांग शब्द का प्रयोग हुआ है जो कालिक श्रुतान्तर्गत एवं उत्कालिक श्रुतान्तर्गत आया है।[७] परन्तु उपांग आगम ग्रन्थों का निर्धारण कब हुआ यह स्पष्ट नहीं हो सका है। मूर्धन्य मनीषियों का मानना है कि आगम पुरुष की कल्पना के साथ ही अंग स्थानीय शास्त्रों की कल्पना भी हुई होगी। उस समय उपांग भी अमुक्-अमुक् स्थानों पर प्रतिष्ठापित करने के लिए परिकल्पित किए गए होगें। यद्यपि कुछ आचार्यों ने अंगों और उपांगों का सम्बन्ध जोड़ने का प्रयत्न किया है, लेकिन विषय आदि की दृष्टि से इनमें कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। द्वादश उपांग सम्बन्धी उल्लेख ईसा की बारहवीं शताब्दी के पूर्व के ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता है।[८]

जैसा कि हम जानते हैं कि अंग साहित्य की रचना गणधरों ने की थी जिनके अपने स्वतंत्र विषय थे। उपांग साहित्य की रचना स्थविरों के द्वारा हुई थी उनके भी

* वरिष्ठ प्राध्यापक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

अपने स्वतंत्र विषय थे। अत: यह स्पष्ट है कि विषय-वस्तु विवेचन आदि की दृष्टि से अंग उपांगों से भिन्न है। 'नन्दीसूत्र' की चूर्णि में श्रुतपुरुष की कल्पना की गई है।[९] पुरुष के शरीर में जिस प्रकार बारह अंग होते हैं, जैसे- दो पैर, दो जंघाएँ, दो उरु, दो गात्रार्थ (उदर, पीठ), दो भुजाएँ, गर्दन और सिर आदि, इसी प्रकार श्रुतपुरुष के भी बारह अंग हैं।[१०] इसको हम इस प्रकार समझ सकते हैं-

क्र०सं०	अंग	द्वादशांग
१.	दाँया पैर	आचारांग
२.	बाँया पैर	सूत्रकृतांग
३.	दायीं जंघा	स्थानांग
४.	बायीं जंघा	समवायांग
५.	दायां उरु	भगवती
६.	बायां उरु	ज्ञाताधर्मकथा
७.	उदर	उपासकदशा
८.	पीठ	अन्तकृत्दशा
९.	दायीं भुजा	अनुत्तरौपपातिक
१०.	बायीं भुजा	प्रश्नव्याकरण
११.	गर्दन	विपाक
१२.	सिर	दृष्टिवाद[११]

श्रुतपुरुष की कल्पना आगमों के वर्गीकरण की दृष्टि से एक सुन्दर कल्पना है। आज भी प्राचीन ज्ञान भण्डारों में श्रुतपुरुष के हस्तरचित अनेक कल्पना चित्र प्राप्त होते हैं। द्वादशांग अंगों की रचना के पश्चात् श्रुतपुरुष के प्रत्येक अंग के साथ एक-एक उपांग की भी कल्पना की गई, क्योंकि अंगों में कहे हुए अर्थों का स्पष्ट बोध उपांग सूत्रों के द्वारा ही होता है।[१२] प्रत्येक अंगों के उपांग इस प्रकार हैं- आचारांग का उपांग औपपातिक है। इसी प्रकार सूत्रकृतांग का राजप्रश्नीय, स्थानांग का जीवाभिगम. समवायांग का प्रज्ञापना, भगवती का जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्मकथा का सूर्यप्रज्ञप्ति, उपासकदशा का चन्द्रप्रज्ञप्ति, अन्तकृत्दशा का निरयावलिया-कल्पिका, अनुत्तरौपपातिकदशा का कल्पावतंशिका, प्रश्नव्याकरण का पुष्पिका, विपाक का

पुष्पचूलिका और दृष्टिवाद का उपांग वृष्णिदशा है। उपांग का विषय-विश्लेषण, प्रस्तुतीकरण आदि की दृष्टि से अंग के साथ सम्बन्ध होना चाहिए, परन्तु इस प्रकार का कोई सम्बन्ध इनमें नहीं है। जहाँ तक इनकी रचना का प्रश्न है तो ऐसा लगता है कि जैन धर्म-दर्शन के गम्भीर अर्थ को समझने एवं समझाने के लिए ही उपांगों की रचना की गई होगी।

प्रस्तुत आलेख में उपांग साहित्य के आठवें उपांग निरयावलिया-कल्पिका का वर्णन किया गया है। निरयावलिया श्रुतस्कन्ध में पाँच उपांग समाहित किए गए हैं- कल्पिका, कल्पावतंशिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका और वृष्णिदशा। मनीषियों का यह मानना है कि पहले ये पाँचों निरयावलिया के ही नाम से जाने जाते थे परन्तु बाद में बारह अंगों के साथ बारह उपांगों के सम्बन्ध को स्थापित करने के लिए इन्हें पृथक्-पृथक् कर दिया गया। जिस आगम में नरक में जाने वाले जीवों का पंक्तिबद्ध वर्णन हो वह निरयावलिया है। (निरय+आवलि = नरक की आवलिका का जिसमें वर्णन हो)। इस आगम में एक श्रुतस्कन्ध, पाँच वर्ग, बावन अध्ययन (१०,१०,१०,१०,१२) तथा ११०० श्लोक प्रमाण मूलपाठ हैं। इसमें निरयावलिया के प्रथम वर्ग (कल्पिका) में दस अध्याय हैं, जिनमें काल, सुकाल, महाकाल, कण्ह, सुकण्ह, महाकण्ह, रामकण्ह, पिउसेनकण्ह, महासेनकण्ह का वर्णन किया गया है। इसके साथ ही प्रथम अध्याय में कूणिक (अजातशत्रु) का जन्म, कूणिक का अपने पिता श्रेणिक (बिम्बसार) को जेल में डालकर स्वयं राजसिंहासन पर बैठना, श्रेणिक की आत्महत्या, कूणिक का अपने छोटे भाई वेहल्ल कुमार से सेचनक हाथी और हार को लौटाने के लिए अनुरोध तथा कूणिक और वैशाली के गणराजा चेटक के युद्ध का वर्णन है। ('दीघनिकाय' के महापरिनिव्वाणसुत्त में वज्जियों के विरुद्ध अजातशत्रु के युद्ध का वर्णन है।) इस उपांग से प्राचीन मगध के इतिहास की जानकारी प्राप्त की जा सकती है। इसमें सम्राट श्रेणिक के राज्य का वर्णन किया गया है। सम्राट श्रेणिक का उल्लेख जैन एवं बौद्ध परम्पराओं में क्रमशः 'श्रेणिक भिम्भसार' और श्रेणिक बिम्बिसार' के रूप मे मिलता है। जैन दृष्टि से श्रेणिक की स्थापना करने से उनका नाम श्रेणिक पड़ा।[१३] बौद्ध दर्शन के अनुसार पिता के द्वारा अट्ठारह श्रेणियों का स्वामी बनाए जाने के कारण वे श्रेणी बिम्बिसार के रूप में प्रख्यात हुए।[१४] जैन और बौद्ध दोनों ही परम्पराओं में श्रेणियों की संख्या अट्ठारह मानी गई है।[१५] 'जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति' में तो श्रेणियों के नौ नारुक और नौ कारुक - अट्ठरह भेदों का विस्तार से वर्णन किया गया है, जैसे- कुम्भकार, पटेल- ग्रामप्रधान, सुवर्णकार, सूपकार, संगीतकार, नापित, चर्मकार, दर्जी, ग्वाले आदि। 'महावस्तु' में श्रेणियों के तीस नाम मिलते हैं।[१६] ये नाम 'जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति' में वर्णित नामों से मिलते-जुलते हैं। डॉ० आर०सी० **मजुमदार ने**

भी विविध ग्रन्थों के आधार पर श्रेणियों के सत्ताईस नाम बताए हैं।[१७] विद्वानों का तो यह भी मानना है कि राजा श्रेणिक के पास बहुत बड़ी सेना थी और वे सेनिय गोत्र के थे, इसलिए उनका नाम श्रेणिक पड़ा।[१८]

जैन साहित्य में राजा श्रेणिक की रानियों के पच्चीस नाम मिलते हैं। जिनमें से 'अन्तकृत्दशा'[१९] में २३ रानियों के नामों का उल्लेख है- नन्दा, नन्दवती, नन्दोत्तरा, नन्दिसेणिया, मरुता, सुमरुया, महामरुता, मरुदेवा, भद्रा, सुभद्रा, सुजाता, सुमनायिका, भूतदत्ता, काली, सुकाली, महाकाली, कृष्णा, सुकृष्णा, महाकृष्णा, वीरकृष्णा, रामकृष्णा, पितुसेनकृष्णा और महासेनकृष्णा। 'ज्ञाताधर्मकथांग' में धारिणी नाम की रानी का भी उल्लेख मिलता है।[२०] 'दशाश्रुतस्कन्ध' में महारानी चेलना का वर्णन मिलता है।[२१] 'निशीथचूर्णि' में अपतगन्धा को भी श्रेणिक की रानी बताया गया है।[२२] बौद्ध साहित्य के 'विनयपिटक' में भी राजा श्रेणिक की ५०० रानियों का उल्लेख किया गया है।[२३] परन्तु यहाँ पर उनके नाम नहीं दिए गए हैं। 'जातक' के अनुसार कोशला देवी भी उनकी रानी थी, जो रानियों में मुख्य थी।[२४] 'थेरीगाथा' अट्ठकथा में रानी खेमा का नाम मिलता है। इनके अतिरिक्त पद्मावती, वासवी, शीलवा, अम्बपाली, जयसेना आदि रानियों के नाम मिलते हैं।[२५] जैन एवं बौद्ध साहित्य में उल्लेखित राजा श्रेणिक की रानियों के नाम एक-दूसरे से भिन्न हैं। ये भेद परम्परा की दृष्टि से हो सकते हैं, ऐसा कहा जा सकता है।

जैन साहित्य में राजा श्रेणिक के पुत्रों के भी अनेक नाम मिलते हैं, जैसे- जाली, मयाली, उवयाली, पुरिमसेण, वारिसेण, दीहदन्त, लट्ठदन्त, वेहल्ल, वेहायस, अभयकुमार, दीहसेण, महासेण, लट्ठदन्त, गूढदन्त, सुद्धन्त, हल्ल, दुम, दुमसेण, महादुमसेण, सीह, सीहसेण, पुण्णसेण, कालकुमार, सुकालकुमार, महाकालकुमार, कृष्णाकुमार, सुकृष्णाकुमार, महाकृष्णकुमार, वीरकृष्णकुमार, रामकृष्णकुमार, सेणकृष्णकुमार, महासेणकृष्णकुमार, मेघकुमार, नन्दिसेन, कूणिक आदि। बौद्ध साहित्य में भी श्रेणिक बिम्बिसार के पुत्रों के नाम मिलते हैं, जैसे- अजातशत्रु, अभय, सीलव, देवदत्त, विमलकोण्डञ्ञ, जयसेन, वेहल्ल आदि।[२६]

जैन साहित्य के अनुसार राजगृह के राजा श्रेणिक की महारानी चेलना से कूणिक, काली से कालकुमार, महाकाली से महाकाल आदि पुत्र उत्पन्न हुए। इनमें कूणिक जब बड़ा हुआ तो राज्य प्राप्ति हेतु अपने पिता श्रेणिक को कारागृह में बन्दी बनाकर स्वयं राजसिंहासन पर विराजमान हो गया। श्रेणिक कारागृह में आत्महत्या कर लेते हैं। चेलना अपने पुत्र को पिता-प्रेम व दोहद की घटना सुनाती है कि किस प्रकार

उसके गर्भ में आने पर राजा श्रेणिक के उदर का माँस खाने का दोहद पैदा हुआ जिसे राजा ने अभय कुमार की सहायता से पूर्ण किया। मेरे द्वारा तुम्हें उकरड़ी पर फेंक दिए जाने पर कुकुक्ट ने तुम्हारी अँगुली पर चोंच मार दी और उसमें घाव हो गया। राजा को जब इस बात का पता चला तो उन्होंने तुम्हें तुरन्त मँगवा लिया। वेदना से पीड़ित होने पर राजा स्वयं तुम्हारा मवाद चूस कर फेंक देते और तुम चुप हो जाते थे। माता से पिता के प्रेम की बात जान वह कुठार लेकर उन्हें मुक्त करने जाता है, लेकिन उसे देखते ही श्रेणिक तालपुट विष खाकर अपने प्राण त्याग देते हैं।[२७]

बौद्ध साहित्य में भी यह प्रसंग मिलता है। अन्तर सिर्फ इतना है कि इसमें रानी को राजा के घुटने का रक्तपान करने का दोहद हुआ था, जिसे राजा ने वैद्य की सहायता से रक्त निकलवा कर पूर्ण किया था।[२८] बच्चे के जन्म के पश्चात् राजा स्वयं उसे रानी से दूर कर देते हैं कि कहीं वह उसको कोई नुकसान न पहुँचा दे। किन्तु कुछ समय पश्चात् राजा स्वयं पुत्र को माता को सौंप देते हैं जिससे उनमें मातृ-प्रेम जागृत हो जाता है और वे उसका पालन करती हैं। एक बार अजातशत्रु की अँगुली में फोड़ा हो जाता है। बालक की वेदना पर स्वयं राजा पुत्र की अँगुली से मवाद चूस लेते हैं और बालक शांत हो जाता है।[२९] बड़े होने पर महत्त्वाकांक्षी अजातशत्रु को देवदत्त उकसाता है और वह अपने पिता बिम्बिसार को तापनगेह में डालकर स्वयं राजा बन जाता है। राजा से मिलने केवल अजातशत्रु की माता ही जा सकती थीं। अत: वे अपने बालों में भोजन छिपाकर ले जाने लगीं। बाद में अपने शरीर पर सुगंधित जल लगाकर जाने लगीं जिसे चाट कर राजा अपनी क्षुधा शान्त कर लेते थे। जब अजातशत्रु को इस बात का पता चला तो उसने माता का मिलना बन्द कर दिया और गुस्से में आकर राजा के पैरों को काटकर तेल और नमक लगाकर तलने का आदेश दिया जिससे राजा की मृत्यु हो गई। तभी पुत्र जन्म का समाचार सुन अजातशत्रु पुत्र-प्रेम से आह्लादित हो अपने पिता की स्थिति का अनुभव करता है। वह अपने पिता को तापनगेह से मुक्त करना चाहता है, किन्तु तब तक उनके प्राणों का अन्त हो चुका होता है।[३०] सेवक द्वारा पिता की मृत्यु का संवाद सुन वह अत्यन्त दु:खी होता है।

कूणिक जन्म समय का दोहद, अँगुली में व्रण, पिता को कारागृह में डालना आदि का वर्णन दोनों ही परम्पराओं में कुछ भिन्नताओं के साथ मिलता है। इस भिन्नता का कारण उनका रचना काल हो सकता है। पं० दलसुखभाई मालवणिया ने 'निरयावलिया' की रचना वि०सं० के पूर्व की मानी है।[३१] अट्ठकथाओं का समय विक्रम की ५वीं शती है।[३२]

तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो कूणिक की क्रूरता का वर्णन दोनों परम्पराओं में है, परन्तु जैन परम्परा के अनुसार श्रेणिक को कारागृह में डाला गया था तथा

श्रेणिक ने स्वयं मृत्यु का वरण किया था। बौद्ध परम्परा में तो राजा को तापनगेह में डालकर क्षुधा से पीड़ित कर मारा गया था और उसे मरवाने वाला स्वयं अजातशत्रु था।[३३]

जैन परम्परा के अनुसार कूणिक अपनी रानी पद्मावती के कहने पर अपने छोटे भाइयों हल्ल कुमार और वेहल्ल कुमार से पिता द्वारा दिये गये सेचनक हाथी व अट्ठारहसरा हार (अट्ठारह लड़ी वाला) भी ले लेना चाहता है, क्योंकि ये दोनों श्रेणिक के पूरे राज्य के बराबर थे।[३४] किन्तु दोनों भाई हल्ल कुमार और वेहल्ल कुमार हाथी-हार और अपने अन्त:पुर को लेकर अपने नाना महाराज चेटक के पास वैशाली चले आते हैं। कूणिक को जब यह पता चलता है तो वह अपना दूत भेजता है। चेटक कहते हैं कि शरणागत की रक्षा करना मेरा धर्म है। यदि कूणिक हाथी और हार के बदले आधा राज्य दे तो हम हार और हाथी लौटा सकते हैं। कूणिक को जब यह संदेश प्राप्त हुआ तो उसे अत्यन्त क्रोध आया। वह अपने दसों भाईयों की सेना को लेकर वैशाली पहुँचा। कूणिक की सेना में ३३ सहस्त्र हाथी, ३३ सहस्त्र घोड़े, ३३ सहस्त्र रथ और ३३ करोड़ पदाति थे।

राजा चेटक ने नौ मल्ल के, नौ लिच्छवी- इन अट्ठारह काशी-कोशल राजाओं को बुलाकर उनसे परामर्श किया। सभी ने कहा- शरणागत की रक्षा करना क्षत्रियों का कर्तव्य है। वे सभी युद्ध के मैदान में आए। चेटक की सेना में ५७ सहस्त्र हाथी, ५७ सहस्त्र घोड़े, ५७ सहस्त्र रथ और ५७ करोड़ पदाति सैनिक थे। राजा चेटक भगवान महावीर का परम उपासक थे। उन्होंने श्रावक के द्वादश व्रत ग्रहण किए थे। चेटक ने एक विशेष नियम भी ले रखा था कि मैं एक दिन में एक ही बार बाण चलाऊँगा। उनका बाण कभी भी निष्फल नहीं जाता था।[३५] अजातशत्रु कूणिक की ओर से प्रथम दिन कालकुमार सेनापति के रूप में उपस्थित हुआ। उसने गरूड़व्यूह की रचना की। राजा चेटक ने भी शकटव्यूह की रचना की। दोनों में भयंकर युद्ध हुआ। राजा चेटक ने अमोघ बाण का प्रयोग किया जिससे कालकुमार जमीन पर गिर पड़ा और मरकर नरक में गया।

इसी तरह एक-एक कर दस भाई सेनापति बनकर क्रमश: पहले दिन कालकुमार, दूसरे दिन सुकाल कुमार, तीसरे दिन महाकाल कुमार, चौथे दिन कृष्णकुमार, पाँचवे दिन सुकृष्ण कुमार, छठे दिन महाकृष्ण कुमार, सातवें दिन वीरकृष्ण, आठवें दिन रामकृष्ण, नौवें दिन पितृसेनकृष्ण और दशवें दिन महासेनकृष्ण

युद्ध क्षेत्र में आए और क्रमशः वे सभी राजा चेटक के अचूक बाण से मर कर नरक में गए। इस प्रकार क्रमशः नौ अध्यायों में नौ भाईयों का वर्णन किया गया है।

बौद्ध साहित्य में भी यह प्रकरण कुछ भिन्न प्रकार से मिलता है। गंगा-तट के एकपट्टन के सन्निकट पर्वत में रत्नों की खान थी।[३६] अजातशत्रु और लिच्छवियों में यह तय हुआ कि आधे-आधे रत्न परस्पर में ले लेंगे। अजातशत्रु किसी कारण वश समय से नहीं पहुँच सका और लिच्छवी सभी रत्न लेकर चले गए। उसे क्रोध आया और वह गणतंत्र के साथ युद्ध कैसे किया जाए विचार करने लगा, क्योंकि उनके बाण कभी निष्फल नहीं जाते।[३७] यही सोचकर वह हर बार युद्ध का विचार स्थगित करता रहा, परन्तु अत्यधिक परेशान हो जाने पर उसने मन में निश्चय कर लिया कि मैं वज्जियों का अवश्य विनाश करूँगा। उसने अपने महामंत्री वस्सकार को बुलाकर तथागत बुद्ध के पास भेजा।[३८] तथागत बुद्ध ने कहा- वज्जियों में सात बातें हैं- १.सन्निपात-बहुल है अर्थात् वे अधिवेशन में सभी उपस्थित रहते हैं। २. उनमें एकमत है जब सन्निपात भेरी बजती है तब वे चाहे जिस स्थिति में हो सभी एक हो जाते हैं। ३. वज्जी अप्रज्ञप्त (अवैधानिक) बात को स्वीकार नहीं करते और वैधानिक बात का उच्छेद नहीं करते। ४. वज्जी वृद्ध व गुरुजनों का सत्कार-सम्मान करते हैं। ५. वज्जी कुल-स्त्रियों और कुल-कुमारियों के साथ न तो बलात्कार करते हैं और न बलपूर्वक विवाह करते हैं। ६. वज्जी अपनी मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं करते। ७. वज्जी अर्हतों के नियमों का पालन करते हैं, इसलिए अर्हत् उनके वहाँ पर आते रहते हैं। ये सात नियम जब तक वज्जियों में हैं और रहेंगे तब तक कोई भी शक्ति उन्हें पराजित नहीं कर सकती।[३९] प्रधान अमात्य वस्सकार ने आकर सारी बात अजातशत्रु से कही और कहा कि जब तक उनमें भेद नहीं होगा उन्हें कोई भी शक्ति हानि नहीं पहुँचा सकती। अजातशत्रु ने वस्सकार को आरोपित कर अमात्य पद से हटा दिया और वस्सकार वज्जियों के बीच रहने लगा। तीन साल बाद वज्जियों में मतभेद उत्पन्न कर वस्सकार अजातशत्रु को सूचित करता है - अभी वज्जियों में मतभेद है, अतः आप आक्रमण कर सकते हैं। तब अजातशत्रु ससैन्य आक्रमण करता है और वैशाली गणराज्य का नाश कर देता है।[४०]

जैन एवं बौद्ध दोनों ही परम्पराओं में मगध विजय और वैशाली के नष्ट होने के विवरण मिलते हैं। जैन दृष्टि से चेटक १८ गण देशों का नायक था। बौद्ध परम्परा उसे केवल प्रतिपक्षी ही मानती है। जैन दृष्टि से कूणिक के पास ३३ करोड़ सेना थी तो चेटक के पास ५७ करोड़ सेना थी। दोनों ही युद्धों में एक करोड़ अस्सी लाख मानवों का संहार हुआ। बौद्ध दृष्टि से युद्ध का निमित्त रत्नराशि है, जबकि जैन परम्परा

में सेचनक हाथी और हार। जैन परम्परा में जैसे चेटक का प्रहार अमोघ बताया है वैसे ही बौद्ध ग्रन्थों की दृष्टि से वज्जी लोगों के प्रहार अचूक थे। नगर की रक्षा का मूल आधार जैन दृष्टि से स्तूप को माना गया है तो बौद्ध दृष्टि से पारस्परिक एकता, गुरुजनों का सम्मान बताया गया है। इसका जितना व्यवस्थित वर्णन जैन परम्परा में है उतना बौद्ध परम्परा में नहीं हो पाया है। वैशाली की पराजय में दोनों ही परम्पराओं में छद्म भाव का उपयोग हुआ है। वैशाली का युद्ध कितने समय तक चला इस सम्बन्ध में जैन दृष्टि से एक पक्ष तक तो प्रत्यक्ष युद्ध हुआ और कुछ समय प्राकार-भंग में लगा। बौद्ध दृष्टि से वस्सकार तीन वर्ष तक वैशाली में रहा और लिच्छवियों में भेद उत्पन्न करता रहा। डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी के अभिमतानुसार युद्ध की अवधि (५६२-५४६ ई० पू०) कम से कम १६ वर्ष तक की है।[४१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि अजातशत्रु कूणिक को दोनों ही परम्पराएँ अपने धर्म का अनुयायी मानती हैं। संभवत: शुरु में वह जैन था। जैन ग्रन्थों में उसकी धार्मिक भक्ति की प्रशंसा भरी पड़ी है। पितृ-हत्या के दोष के जघन्य पाप से वह जैन परम्परा में मुक्त है। कूणिक अपनी रानियों और विपुल परिजनों के साथ नातपुत्त से प्राय: मिलने जाता था। वैशाली और चम्पा में वह महावीर के सम्पर्क में आता है और जैन संघ के प्रति अपना सुंदर भाव प्रकट करता है।[४२] परन्तु बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार वह बाद के जीवन में जैन धर्म के बजाय बौद्ध धर्म का भक्त हो गया था। अपने पिता का घात करने के पश्चात् वह शान्ति के लिए बुद्ध के पास गया और प्रार्थना की- 'भगवान मेरे इस अपराध को अपराध स्वीकार करें जिससे भविष्य में मैं उससे निवृत्त हो सकूँ।' बुद्ध ने उसके इस पाप निवेदन को स्वीकार किया। इस कथन से यह तात्पर्य नहीं है कि वह बौद्ध बन गया था।[४३]

अन्त में चम्पानगरी में कुमारों (श्रेणिक-पुत्रों) की माताओं द्वारा उनके कृत कर्मों के विषय में पूछने पर भगवान महावीर कहते हैं कि- ये दसों कुमार मरकर नरक में जाएंगे और वहाँ से निकल कर महाविदेह में जन्म लेंगे। वहाँ वैराग्य और श्रमण धर्म स्वीकार करके उत्कृष्ट साधना कर मुक्ति को प्राप्त करेंगे। इनके अन्य भ्राता (२३ भाई) श्रमण धर्म को स्वीकार कर स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त हुए थे। उनकी माताएँ भी श्रमण धर्म को स्वीकार कर मुक्त हुई थीं। इसमें पुत्र और माताओं के नाम भी एक सदृश हैं। इस प्रकार 'निरयावलिया-कल्पिकासूत्र' की कथा यहाँ पर सम्पन्न होती है।[४४] इस उपांग में मगधनरेश श्रेणिक और उनके वंशजों का विस्तृत वर्णन है, कूणिक का जीवन परिचय है, वैशाली गणराज्य के अध्यक्ष चेटक के साथ कूणिक के युद्ध का वर्णन है, पुत्र के प्रति पिता का अपार स्नेह भी इसमें वर्णित है। इस प्रकार यह उपांग सामाजिक जीवन की वास्तविकताओं को प्रस्तुत करता है।

सन्दर्भ

१. **नन्दीसूत्र**, ४४, सम्पा०-युवाचार्य मधुकर मुनि, प्रकाशक- आगम प्रकाशन समिति ब्यावर, १९८२

२. **तत्त्वार्थसूत्र**, पृ०-९, विवे- पं० सुखलाल संघवी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९७६

३. अन्यथा हि अनिबद्धमंगोपांमगशः समुद्रप्रतरणवदुश्ध्यवसेयं स्यात्। **तत्त्वार्थभाष्य**, १-२०

४. **विधिमार्गप्रपा**, पृ०- ४८-५७, सम्पा०- मुनि जिनविजयेन, प्रका०- श्री जिनदत्त सूरि ज्ञान भण्डार, गोपीपुरा, सूरत, १९४१

५. मालवणिया, पं० दलसुखभाई, **जैन साहित्य का बृहद् इतिहास**, भाग-१, प्रस्तावना, पृ०-३९, प्रका०- पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९६६

६. वही, पृ०-३९

७. वही, पृ०-३०-३१

८. कापडिया, हीरालाल र०, **हिस्ट्री ऑव कैनोनिकल लिटरेचर ऑव जैनाज**, पृ०-२९, ३४

९. **नन्दीचूर्णि**, पृ०-४७, मुनि पुण्यविजय, प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी, १९६६

१०. **नन्दीवृत्ति**, २३, प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी, १९६६

११. **नन्दीसूत्र**, मलयगिरिवृत्ति, पृ०- २०३

१२. अंगार्थस्पष्ट बोधिविधायकानि उपांगानि, **औपपातिक** टीका।

१३. श्रेणी: कायत्ति श्रेणिको मगधेश्वरः। **अभिधानचिन्तामणिः**, स्वोपज्ञवृत्ति, मर्त्यकाण्ड, ३७६, सम्पा०- श्री विजयधर्मसूरि, प्रका०- नत्थालाल लक्ष्मीचंद वकील, भावनगर, वीर सं० २४४१

१४. स पित्राष्टादशसु श्रेणि स्ववत्तारितः, अतोऽस्य श्रेष्यो बिम्बिसार इति ख्यातः।। **विनयपिटक**, गिलगिट मांस्क्रपट।

१५. **जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति**, ३/८३ सम्पा०- मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८६ तथा जातक,मूगपक्ख जातक भाग-६, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सम्वत् १९८८

१६. **महावस्तु**, भाग-३, ४४२-४४३, डॉ० एस० बागचि, मिथिला संस्थान, दरभंगा, १९७०

१७. Majumdar, R. C., *Corporate Life in Ancient India*,, Cosmo Publication, New Delhi, 1994, page-4

१८. *Dictionary of Pali Proper Names*, Vol.-II, Page-285, 1284

१९. **अन्तकृतदशासूत्र**, ७/१-१३ तथा ८/१-१०, सम्पा०- मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८१

२०. **ज्ञाताधर्मकथासूत्र**, १/१६, सम्पा०- मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८१

२१. **दशाश्रुतस्कन्ध**, दशवीं दशा, उपाध्याय आत्मारामजी, जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, १९३६

२२. **निशीथचूर्णि**, सभाष्य, भाग-१, पृ०-१७

२३. **विनयपिटक**, अनु०- राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, प्रथम संस्करण १९३५, महावग्ग, ३/८/१/१, पृ०- २६९

२४. **जातक**, भाग-४/४०३, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सम्वत् २०११, *Dictionary of Pali Proper Names*, Vol.-II, Page-286

25. *Dictionary of Pali Proper Names*, Vol.-II, Page- 286, **थेरीगाथा**-अट्ठकथा, १३९-१४३

२६. **थेरगाथा**, ३/२६, २७/६०९, भिक्षु धर्मरत्न, भारतीय बौद्ध शिक्षा परिषद्, लखनऊ, १९८८, पृ०-१०, १४३, *Dictionary of Pali Proper Names*, Vol.-II, Page-286

२७. **निरयावलिकासूत्र**, ११-२१, पृ०- १२-२४, सम्पा०- मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८५

२८. **दीघनिकाय**, अट्ठकथा, १, पृ०- १३३, भिक्खु जगदीश कश्यप, पाली प्रकाशन संस्था, बिहार सरकार, १९५८

२९. मुखर्जी, राधाकुमुद, **हिन्दू सभ्यता**, पृ०- १८६, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९५५

३०. **दीघनिकाय**- अट्ठकथा-१, पृ०-१३५, **हिन्दू सभ्यता**, पृ०-१९८

३१. मालवणिया, पं० दलसुखभाई, **आगम युग का दर्शन**, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, संस्करण १९६६, पृ०-२९

३२. आचार्य बुद्धघोष, महाबोधिक सभा, सारनाथ, वाराणसी, संस्करण-१९५६

३३. मुनि श्री कन्हैयालाल कमल, मालवणिया, पं० दलसुखभाई, **धर्मकथानुयोगः एक समीक्षात्मक अध्ययन**, प्रस्तावना, पृ०- ११७, आगम अनुयोग ट्रस्ट, अहमदाबाद, १९८३ तथा **हिन्दू सभ्यता**, पृ०- १८६

३४. **आवश्यकचूर्णि**, उत्तरार्द्ध, पत्र १६७, श्रीमद् जिनदासगणि महत्तर, श्वेताम्बर संस्था, वि० सं० १९८६

३५. चेटकराजस्य तु प्रतिपन्नं व्रतत्वेन दिनमध्ये एकमेव शरं मुञ्चति अमोघबाणश्च। **निरयावलिका** (सटीक), पत्र -१

३६. राहुल सांकृत्यायन, **बुद्धचर्या**, पृ०-५२०, शिवप्रसाद गुप्त सेवा उपवन, काशी, वि० सं० १९८८

३७. वही, B.C. Law, *Buddhaghosa*, P. III, **हिन्दू सभ्यता**, पृ०-१८८।

३८. वाज्जीनं सत्त अपरिहानिया धम्मा। दीघनिकाय, **महापरिनिव्वाणसुत्त**, २/३/१

३९. वही

४०. **दीघनिकाय**- अट्ठकथा-१, पृ०-५२३, **हिन्दू सभ्यता**, पृ०- १८६

४१. **हिन्दू सभ्यता**, पृ०- १८९

४२. **औपपातिकसूत्र**, १२-२०, पृ०- १४-२३, सम्पा०- मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८२

४३. **हिन्दू सभ्यता**, पृ०- १९०-१९१

४४. **निरयावलियासूत्र**, १/३/१०/३६

श्रमण, वर्ष ५८, अंक २-३
अप्रैल-सितम्बर २००७

धार्मिक-सहिष्णुता और धर्मों के बीच मैत्रीभाव - जैन-दृष्टिकोण*

डॉ० राजेन्द्र जैन**

वर्तमान समय में विश्व जिन ज्वलंत समस्याओं का सामना कर रहा है, उनमें धार्मिक-मतान्धता और असहिष्णुवैदकता अत्यन्त जटिल समस्या है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में चमत्कारिक प्रगति ने मानव-समाज को यातायात और संचार के सुलभ साधन प्रदान किए हैं। परिणामस्वरूप भिन्न-भिन्न राष्ट्रों, संस्कृतियों एवं धर्मों के लोगों से सम्पर्क करने में हजारों किलोमीटर की दूरी भी अब बाधा नहीं रही है। इस दृष्टि से हमारा विश्व सिमटता जा रहा है, परन्तु दुर्भाग्य से आपसी वैमनस्यता एवं घृणा के कारण मनुष्य-मनुष्य के बीच हृदय की दूरी दिन-ब-दिन ज्यादा होती जा रही है। हम आपस में पारस्परिक प्रेम, सहयोग और विश्वास विकसित करने के बजाय आपसी-विद्वेष एवं शत्रुता को ही बढ़ावा दे रहे हैं। इस प्रकार हम सह-अस्तित्व एवं सद्भावना के जीवन-मूल्यों की अनदेखी कर रहे हैं। परमाणु-शस्त्रों के प्रति हमारी अंधी एवं उन्मत्त दौड़ इस बात का स्पष्ट संकेत है कि हम मानवजाति के विनाश की चिता तैयार कर रहे हैं। गुरुवर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने सही कहा था - 'मनुष्य के लिए एक-दूसरे के निकट आकर भी मानवता के दायित्वों (मानवीय गुणों) की उपेक्षा करना निश्चित ही मानवजाति की आत्महत्या की ही प्रक्रिया होगी।'[१]

वर्तमान परिस्थितियों में मानवजाति को बचाने का केवल एक ही उपाय है- 'मानवीय समाज में पारस्परिक-सहयोग एवं सह-अस्तित्व के जीवन-मूल्यों के प्रति दृढ़ विश्वास की भावना विकसित की जाए।' इस हेतु धार्मिक-सहिष्णुता और विभिन्न धर्मों के बीच मैत्रीभाव हमारे युग की सबसे पहली जरूरत है।

मानवता : एकता के सूत्र में जोड़ने वाली कड़ी

निःसंदेह, हम सभी भिन्न-भिन्न आस्थाओं, धर्मों तथा संस्कृतियों से संबंधित हैं। हमारी साधना-पद्धतियाँ और कुछ हद तक हमारे जीने के ढंग भी भिन्न हैं। हमारे

प्रो० सागरमल जैन द्वारा लिखित आलेख - 'Religious Harmony and Fellowship of Faiths - A Jain Perspective' का हिन्दी अनुवाद है।

**प्राध्यापक, वाणिज्य विभाग, पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, शाजापुर (म०प्र०)*

दार्शनिक दृष्टिकोण एवं विचारधाराएं भी भिन्न-भिन्न हैं। इन सब विविधताओं के बीच भी मानवीय एकता का एक सामान्य सूत्र है, जो हम सभी को आपस में जोड़ता है और वह मानवता के अलावा दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता है। हम सभी उसी मानवजाति से संबंधित हैं। दुर्भाग्य से वर्तमान में हमने मानवता को तो गौण कर दिया है और जाति, रंग तथा पंथ-भेद पर आधारित आपसी मतभेद हमारे लिए अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है। हम सभी अपनी मूलभूत एकता को भूल चुके हैं और इन ऊपरी तौर पर दिखाई देने वाली भिन्नताओं को आधार बनाकर आपस में लड़ रहे हैं, परन्तु हमें एक बात अच्छी तरह से समझ लेनी चाहिए कि केवल मानवता ही एक ऐसी कड़ी है, जिसके आधार पर ही भिन्न-भिन्न आस्थाओं, धर्मों, संस्कृतियों और राष्ट्रीयताओं के लोगों को आपस में जोड़ा जा सकता है। जैनाचार्यों ने मानव जाति का प्रतिपादन किया है। (एगे माणुस जाइ)[२] वस्तुतः, जाति, रंग और पंथ-भेद संबंधी मतभेद न केवल सतही हैं, अपितु-मन की ही उपज हैं। ये भेद रेखाएं स्वयं हमने खींची हैं।

सच्चा धर्म क्या है ?

सभी धर्मों का मूल लक्ष्य तो प्रत्येक व्यक्ति के लिए शाश्वत शांति एवं आनंद को सुनिश्चित करना और मानव-समाज में सामन्जस्य स्थापित करना ही है। यद्यपि विश्व-इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि धर्म के नाम पर अनगिनत युद्ध लड़े गए हैं, जिनमें मानव जाति का अपरिमति खून बहा है। निःसंदेह, इसके लिए धर्म नहीं, अपितु तथाकथित रूप से धार्मिक कहे जाने वाले या धर्म के नाम पर अपने हितों का पोषण चाहने वाले व्यक्ति ही इन जघन्य दुष्परिणामों के लिए जिम्मेदार हैं। वर्तमान में धर्म को तो पृष्ठभूमि में धकेल दिया गया है और केवल निजी या राजनीतिक लाभ के लिए ही उसका एक साधन के रूप में इस्तेमाल किया जा रहा है। यदि कोई यह समझता है कि केवल उसका धर्म, उसकी साधना-पद्धति या उसकी राजनीतिक विचारधारा ही मानव-समाज में सुख-समृद्धि और शांति बहाल करने का एकमात्र विकल्प है, तो वह अपने विरोधियों की विचारधारा के प्रति कभी भी सहिष्णु नहीं हो सकता है, अतः मानव-समाज में एक-दूसरे के प्रति सहिष्णुता एवं मैत्रीभाव को अविलंब विकसित करने की आवश्यकता है। केवल यही एकमात्र उपाय है, जिसके द्वारा समाज में शांति और सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है।

क्या कोई भी धर्म जिसमें जैनधर्म भी सम्मिलित है, अकेले ही हमारे युग की चुनौतियों का सामना कर सकता है? इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले हमें वास्तविक धर्म और मिथ्या-धर्म के अन्तर को समझना होगा। चूँकि सच्चा-धर्म कभी भी हिंसा, असहिष्णुता, धार्मिक-कट्टरता का समर्थन नहीं करता है, अतः धर्म के नाम पर अपने

निहित स्वार्थों की पूर्ति करने वाले धार्मिक नेताओं द्वारा किए जाने वाले घृणित कार्यों के लिए धर्म कभी भी उत्तरदायी नहीं माना जा सकता है। धर्म के नाम पर अतीत में जो बर्बरताएं हुई हैं और वर्तमान में जो पापकर्म हो रहे हैं, उसके मूल में तथाकथित धार्मिक नेताओं और उनके अन्ध-अनुयायियों की असहिष्णुता एवं धर्मान्धता ही प्रमुख कारण हैं।

इस घृणित स्थिति से यदि कोई अपने को मुक्त करना चाहता है, तो इसका केवल एक ही उपाय है - धर्म के सारतत्त्व को पकड़कर धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझना और साथ ही दूसरों की विचारधारा एवं धर्म के प्रति सहिष्णुता एवं सम्मान की भावना को अपने में विकसित करना।

जैनाचार्यों के लिए सच्चा धर्म समत्वभाव की साधना में सन्निहित है और अहिंसा का पालन करना उसकी आधारशिला है। सबसे प्राचीन जैन आगम 'आचारांगसूत्र' (ईसा पूर्व की चौथी शताब्दी) में हम धर्म की निम्न दो परिभाषाओं को पाते हैं - समभाव की साधना धर्म का सारतत्त्व है और अहिंसक-व्यवहार उसकी बाह्य अभिव्यक्ति है या धर्म का सामाजिक पहलू है। 'आचारांगसूत्र' में उल्लेखित है कि अहिंसक-आचरण ही सच्चा और शाश्वत धर्म है।

जैनधर्म अपने उद्‌भव-काल से ही मानव-समाज को शांति, सामन्जस्य और सहिष्णुता का पाठ पढ़ाता आया है और इन्हीं सार्वभौमिक मूल्यों में विश्वास करता है। जैनधर्म के विकास का इतिहास बताता है कि वह अपने अभ्युदय काल से ही अन्य धर्मों और धार्मिक विचारधाराओं के प्रति सहिष्णु एवं समादरभाव से युक्त रहा है। जैनधर्म के इतिहास में धार्मिक युद्ध का मुश्किल से ही ऐसा कोई उदाहरण मिलेगा, जिसमें हिंसा या खून-खराबे को धर्म का जामा पहनाया गया हो। वह वैचारिक-मतभेदों की चर्चा कर अनेकांतदृष्टि से उन्हें सुलझाने का ही प्रयत्न करता रहा है। जैनाचार्यों की शिक्षा यह है कि दूसरों की विचारधारा एवं धार्मिक-सिद्धान्तों का विरोध करते समय उन्हें पूर्ण आदर देना चाहिए तथा यह भी स्वीकार करना चाहिए कि उनकी धारणाएं भी किसी निश्चित दृष्टिकोण से न्यायसंगत हो सकती हैं।

मानवता : धर्म का सच्चा स्वरूप

नि:संदेह सबसे पहले तो हम मनुष्य हैं, तत्पश्चात् कुछ और हैं, जैसे - हिन्दू, मुस्लिम, जैन या बौद्ध। सच्चा हिन्दू, मुसलमान आदि होने की पहली शर्त है - सच्चा इन्सान होना। हमारा प्राथमिक धर्म यह है कि हम सही अर्थों में मानव बनें। यही बात प्राचीन जैन ग्रन्थ 'उत्तराध्ययनसूत्र' में भी प्रतिध्वनित हुई है, जिसमें भगवान् महावीर ने एक सच्चा धार्मिक होने के लिए निम्न चार शर्तें निर्धारित की हैं - १. मानवता

२. सच्ची श्रद्धा ३. इन्द्रियसंयम तथा ४. आत्मशुद्धि हेतु प्रयत्न या पुरुषार्थ।[३] इस प्रकार हम देखते हैं कि धार्मिक होने की उपर्युक्त चार शर्तों में मानवता का स्थान ही सबसे पहला है।

जैनधर्म में धर्म को 'वस्तु का स्वभाव' के रूप में परिभाषित किया गया है। (वत्थु सहावो धम्मो)[४] - इस परिभाषा के आलोक में कहा जा सकता है कि मानवता मनुष्य का वास्तविक धर्म है, क्योंकि यही उसका स्वभाव है। मनुष्य होने के नाते, यदि हम मनुष्य के समान व्यवहार नहीं करते हैं, तो हमें धार्मिक कहलाने का, यहां तक कि मनुष्य कहलाने का भी कोई अधिकार नहीं है। इस सन्दर्भ में हमारे युग के प्रसिद्ध दार्शनिक एवं वैज्ञानिक बर्ट्रेण्ड रसेल के निम्न वक्तव्य पर ध्यान देने की आवश्यकता है। वे कहते हैं - 'मैं एक मनुष्य होने के नाते, मैं मनुष्यों से अनुरोध करता हूँ कि हम अपनी मानवता को याद रखें और शेष सब कुछ भूल जाएं। यदि हम ऐसा कर सकते हैं, तो हमारे जीवन में स्वर्ग का एक नवद्वार उद्घाटित होगा और यदि नहीं, तो सार्वभौमिक मृत्यु के अलावा हमारे समक्ष अन्य कुछ भी विकल्प नहीं है।'[५] इस प्रकार मैं इस बात पर जोर देना चाहता हूँ कि मानवता ही हमारा सबसे पहला धर्म है।

मानवता क्या है?

यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि मानवता शब्द से हमारा क्या तात्पर्य है? इसका उत्तर सरल है। मानवता अपने-आप में कुछ भी नहीं है, अपितु मनुष्य के व्यवहार में आत्मचेतना, विवेकशीलता और आत्मसंयम की उपस्थिति ही मानवता है। हमारे युग के सभी मानवतावादी विचारकों द्वारा मनुष्य को दूसरे प्राणियों से मनोवैज्ञानिक आधार पर अलग करने के लिए इन तीनों गुणों को आधारबिन्दु के रूप में मान्य किया गया है। इन तीनों मूलप्रवृत्तियों को ही जैनधर्म की त्रिरत्न-अवधारणा में समझाया गया है, जो क्रमशः इस प्रकार है - सम्यक्-दर्शन (आत्मजाग्रति), सम्यक्-ज्ञान (विवेक) और सम्यक्-चारित्र (संयम)। ये त्रिरत्न ही मनुष्य की मुक्ति का मार्ग बनते हैं[६] और उसे यथार्थ में मनुष्य बनाते हैं। किसी मनुष्य के आचरण में इन तीनों गुणों की उपस्थिति उसे पूर्ण मानव का दर्जा प्रदान करती हैं और यही मानवता है।

मैत्रीभाव : अनेकता में एकता

जैन विचारक दृढ़ता से यह कहते हैं कि अनेकता में ही एकता अन्तर्निहित है। उनके अनुसार एकता और अनेकता एक ही सत्ता के दो पहलू हैं। सत्ता अपने

आप में अनेकता में एकता है। निरपेक्ष-एकता, अर्थात् अद्वैतवाद एवं निरपेक्ष-अनेकता, अर्थात् बहुतत्त्ववाद - इन दोनों ही सिद्धान्तों से जैन विचारक सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार सामान्य दृष्टि से तो सत् एक ही है, परन्तु विशेष दृष्टि से वह अनेक भी है। एक बार भगवान् महावीर से प्रश्न पूछा गया था कि भगवन्! आप एक हैं या अनेक? भगवान् महावीर ने उत्तर दिया था - 'तात्त्विक विचारणा से तो मैं एक हूँ, परन्तु शरीर एवं मन की बदलती हुई पर्यायों की विचारणा से मैं प्रतिपल भिन्नता को प्राप्त कर रहा हूँ, इस प्रकार से अनेक भी हूँ।' इसी विचार को आगे बढ़ाते हुए आचार्य मल्लिषेण कहते हैं - 'जो एक है, वही अनेक भी है।'[७] वस्तुतः, अनेकता में एकता ही प्रकृति का नियम है। प्रकृति तो सर्वत्र एक ही है, परन्तु उसमें अनेकता है, क्योंकि प्राकृतिक घटनाएँ एक-दूसरे से भिन्न होती हैं। यही बात मनुष्य के सन्दर्भ में भी लागू होती है। यद्यपि सभी व्यक्तियों में कुछ सामान्य और विशिष्ट गुण होते हैं, तथापि वैयक्तिक आधार पर प्रत्येक व्यक्ति उसमें रहे हुए विशेष गुणों के कारण एक-दूसरे से भिन्न होता है। विश्व के सभी धर्मों के बारे में भी यही ध्रुवसत्य है। सभी धर्मों में कुछ सार्वभौमिक तत्त्व समान हैं, यही उनकी मूलभूत एकता है, साथ ही प्रत्येक धर्म की अपनी-अपनी विशिष्टताएं भी हैं, जो उसे दूसरे धर्म से अलग करती हैं, इस दृष्टि से धर्म अनेक भी है। आपसी भाईचारा, जरूरतमंदों की सेवा, सत्यवादिता, ईमानदारी, इन्द्रियों पर नियंत्रण आदि सर्वमान्य सद्गुण विश्व के सभी धर्मों में समान रूप से प्रतिपादित हैं, जिनके आधार पर प्रत्येक धर्म के लोग अपने से भिन्न धर्म के लोगों के साथ सद्व्यवहार कर सकते हैं और यही उनकी मूलभूत एकता है। दुर्भाग्य से, वर्तमान समय में इन सभी सर्वमान्य सद्गुणों को तो, जो कि धर्म के सारतत्त्व हैं, हम भुला चुके हैं और बाह्य विधि-विधान या आडम्बरों को, जो कि प्रकृति में भिन्न-भिन्न हैं, अधिक महत्त्व दे रहे हैं। इस प्रकार हम, सभी धर्मों में सामान्य रूप से अन्तर्निहित सद्गुणों पर आधारित एकता को भूलकर बाहरी भिन्नताओं को पकड़कर अपनी-अपनी ढपली, अपना-अपना राग अलाप रहे हैं। परिणामस्वरूप पारस्परिक-विद्वेष की खाई गहरी होती जा रही है।

यद्यपि मैं सभी धर्मों में निहित मूलभूत एकता पर जोर दे रहा हूँ, किन्तु इसका कदापि यह अभिप्राय नहीं है कि मैं एक विश्वधर्म का समर्थन करता हूँ या भिन्न-भिन्न धर्मों की विशिष्टताओं एवं विविधताओं को चोट पहुँचा रहा हूँ। वस्तुतः मैं यह कहना चाहता हूँ कि निरपेक्ष-एकता और निरपेक्ष-अनेकता - दोनों ही भ्रामक अवधारणाएं हैं तथा धर्मों के बीच मैत्रीभाव का अर्थ अनेकता में ही एकता को देखना है।

पारस्परिक सहयोग : प्राणी-जगत् का मूलभूत स्वभाव

जैनाचार्यों की दृष्टि में पारस्परिक सहयोग और सह-अस्तित्व जीव-जगत् के मूलभूत तत्त्व हैं। डार्विन का यह कथन कि **'अस्तित्व के लिए संघर्ष'** और संस्कृत कहावत **'जीवोजीवस्य भोजनम्'** उन्हें स्वीकार नहीं है। वे निश्चयात्मकतापूर्वक कहते हैं कि संघर्ष नहीं, अपितु पारस्परिक-सहयोग ही जीवन का शाश्वत नियम है। आचार्य उमास्वाति (ईसा की चौथी शताब्दी) उनके द्वारा लिखित ग्रन्थ 'तत्त्वार्थसूत्र' में स्पष्ट रूप से कहते हैं कि पारस्परिक-सहयोग ही जीवन का स्वभाव है। **(परस्परोपग्रहो जीवानाम्)**[८] जीवन की उत्पत्ति, विकास और उसका अस्तित्व जीवन के दूसरे रूपों के सहयोग पर ही आधारित है। मानव-समाज के सन्दर्भ में भी यही बात लागू होती है। समाज का अस्तित्व और उसका विकास सभी लोगों के पारस्परिक-सहयोग, एक-दूसरे के लिए त्याग एवं सम्मान की भावना पर निर्भर है। यदि हम सोचते हैं कि हमें दूसरों के सहयोग की जरूरत है, तो अन्य लोगों का सहयोग करना भी हमारा नैतिक कर्तव्य है। जीवन की समानता के सिद्धान्त का अभिप्राय यही है कि आपको जीने का जितना अधिकार है, दूसरे प्राणियों को भी जीने का उतना ही अधिकार है। इस सिद्धान्त के प्रकाश में हम यह कह सकते हैं कि किसी भी मनुष्य को दूसरे मनुष्य की, यहाँ तक कि प्राणीमात्र की हिंसा करने का कोई अधिकार नहीं है, अतः जैनाचार्यों के अनुसार जीवन-यात्रा का सिद्धान्त 'दूसरे जीवों पर भार बनकर' या 'दूसरे जीवों को मारकर' जीना नहीं होकर 'दूसरों के साथ जीना' या 'दूसरों के लिए जीना' रहा है। वे उद्घोष करते हैं कि 'पारस्परिक-सहयोग और सह-अस्तित्व प्राणीजगत् के मूलभूत तत्त्व हैं।' यदि ऐसा है, तो हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि धार्मिक-समन्वय और सभी धर्मों के बीच मैत्रीभाव ऐसे सिद्धान्त हैं, जिनका पालन प्रत्येक मनुष्य को हृदय से करना चाहिए।

एक विश्वधर्म : एक कल्पनामात्र है

धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा को रोकने एवं संघर्षों को समाप्त करने के लिए कुछ लोग एक विश्वधर्म का नारा देते हैं। परन्तु न तो यह संभव है और न ही व्यावहारिक। जब विचारों एवं आदतों, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और बौद्धिक स्तर को लेकर मनुष्यों में विविधता विद्यमान है, तो धार्मिक विचारधाराओं एवं साधना-पद्धतियों में भिन्नता स्वाभाविक है। समदर्शी आचार्य हरिभद्र स्पष्ट रूप से कहते हैं, 'ऋषियों के उपदेशों में जो भिन्नता है, वह उपासकों की योग्यताओं की भिन्नता या उनके स्वयं के द्वारा अपनाए गए दृष्टिकोण में भिन्नता या देश कालगत भिन्नता के आधार पर है। जिस प्रकार से एक वैद्य अलग-अलग व्यक्तियों को उनकी प्रकृति की

भिन्नता अथवा रोग की भिन्नता के आधार पर भिन्न-भिन्न औषधि प्रदान करता है, यह बात धार्मिक-उपदेशों की भिन्नता पर भी लागू होती है,[९] अत: सभी धर्मों में मैत्रीभाव के लिए एकता और अनेकता - दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं तथा किसी एक को भी हमें क्षति नहीं पहुँचाना चाहिए। जिस प्रकार एक बगीचे की सुन्दरता भिन्न-भिन्न प्रकार के फूलों, फलों एवं पौधों के कारण होती है, ठीक उसी प्रकार से धर्मरूपी बगीचे की सुन्दरता भी भिन्न-भिन्न विचारों, आदर्शों और साधनागत विविधताओं पर आधारित है।

सभी धर्मों के प्रति समादर-भाव

जैनाचार्यों के अनुसार सभी धर्मों एवं आस्थाओं के प्रति समादर-भाव ही धार्मिक-सहिष्णुता और धर्मों के बीच मैत्री का आधार है। जैनाचार्य सिद्धसेन दिवाकर लिखते हैं कि 'जिस प्रकार बहुमूल्य रत्न जब तक एक सूत्र में आबद्ध नहीं होते, वे रत्नों के हार का निर्माण नहीं करते और न वे मानव के कण्ठाभरण बनकर शोभा को प्राप्त होते हैं। यही स्थिति विभिन्न धर्मों एवं विश्वासों की है। चाहे प्रत्येक धर्म की अपनी विशेषताएँ हों, किन्तु जब तक वे आपस में मैत्री के सूत्र में संगठित नहीं होते और एक-दूसरे के प्रति समादर का भाव नहीं रखते, तब तक वे मानवता के लिए मंगलप्रद नहीं हो सकते हैं। इसके विपरीत परस्पर एक-दूसरे के विरोध में खड़े होकर वे घृणा और संघर्ष को ही जन्म देते हैं और धर्म के नाम को भी सार्थक नहीं करते हैं।'[१०]

एक बात हमें अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि यदि हम अन्य धर्मों या धार्मिक-आस्थाओं को अपने धर्म की अपेक्षा हीन या मिथ्या समझते हैं, तो विभिन्न धर्मों के बीच सही अर्थों में सामंजस्य संभव नहीं होगा। हमें सभी धर्मों एवं धार्मिक-आस्थाओं को समान रूप से आदर देना होगा। प्रत्येक धर्म एवं उसकी साधना-पद्धति का उद्भव एक विशेष सामाजिक एवं सांस्कृतिक-पृष्ठभूमि में होता है और उसी परिप्रेक्ष्य में उसकी उपयोगिता का सम्यक् मूल्यांकन सम्भव होता है। जिस प्रकार से शरीर के विभिन्न अंग अपने-अपने निश्चित स्थान पर स्थित होकर कार्य करते हैं तथा शरीर में अपने स्थान और कार्य की अपेक्षा से प्रत्येक अंग की अपनी उपयोगिता होती है, वे सभी संगठित होकर एक अखण्ड शरीर के हित में ही कार्य करते हैं, यही बात विभिन्न धर्मों के सन्दर्भ में भी लागू होती है। सभी धर्मों का सामान्य लक्ष्य तो मानव-जीवन एवं मानव-समाज में व्याप्त तनावों एवं संघर्षों का निराकरण कर पृथ्वी पर मानव-जीवन को शांतिमय बनाना है। इस हेतु प्रत्येक धर्म को उसकी अपनी पृष्ठभूमि के अनुसार उसके अपने तरीके से काम करने के लिए आगे आना होगा। यदि कोई धर्म इस लक्ष्य-विशेष को हासिल करने के लिए काम करता है, तो ऐसे

धर्म को अपना अस्तित्व बनाए रखने और तदनुसार काम करने का पूर्ण अधिकार है एवं अन्य धर्मों के समान ही उसे आदर दिया जाना चाहिए।

जैनाचार्य सिद्धसेन दिवाकर (ईसा की पाँचवी शताब्दी) के अनुसार किसी भी धर्म पर मिथ्यावादी होने का दोषारोपण तभी हो सकता है, जबकि वह अन्य धर्मों की मान्यताओं का खण्डन करता है और केवल अपने ही धर्म के पूर्ण सत्य होने का दावा करता है। यदि वह अन्य धर्मों में निहित सत्यांशों को भी स्वीकार करता है, तो नि:संदेह वह भी सत्यपरायण कहलाने का अधिकारी होता है। वे आगे कहते हैं कि प्रत्येक विचारधारा या धर्म अपनी उद्‌भव परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में सही होता है, परन्तु यदि उनमें से प्रत्येक यदि स्वयं के ही पूर्ण सत्य होने का दावा करता है और अन्य धर्मों का अनादर करता है, तो वह सच्चा धर्म नहीं हो सकता है। इसी प्रकार जब वह किसी दूसरे धर्म-विशेष की धार्मिक आस्थाओं, उनके विश्वास एवं सिद्धांतों का खण्डन करने का प्रयास करता है, तो वह धर्म मिथ्यावादी हो जाता है।[११] जैनाचार्यों की दृष्टि में किसी विचारधारा या धर्म-विशेष का सत्य होना, उसके द्वारा दूसरे धर्मों या विचारधाराओं के भी सत्य होने की स्वीकारोक्ति पर निर्भर करता है। सिद्धसेन स्पष्ट रूप से कहते हैं कि जो लोग अनेकांतदृष्टि को स्वीकार करते हैं, वे कभी भी सही या गलत आधार पर विभिन्न धर्मों में विभेद नहीं करते हैं और सभी धर्मों के प्रति समादरभाव रखते हैं।[१२] वर्तमान समय में, जबकि साम्प्रदायिक-सौहार्द तथा सामाजिक-सन्तुलन के लिए धार्मिक-मतान्धता एक गंभीर खतरा बनती जा रही है, विश्व के सभी धर्मों में मैत्रीभाव न केवल आवश्यक है, बल्कि यही एकमात्र उपाय है, जिसके द्वारा मानवजाति को इस संकट से बचाया जा सकता है।

जैनाचार्य विश्व के सभी धर्मों की एकता में विश्वास करते हैं, परन्तु एकता से उनका आशय ऐसी सर्वग्रासी एकता से नहीं है, जिसमें सभी धर्मों का स्वतंत्र अस्तित्व एवं पहचान ही मिट जाए। वे धर्मों की उस विशेष एकता में विश्वास करते हैं, जिसमें सभी धर्मों में समान रूप से प्रतिपादित सद्‌गुणों पर आधारित मूलभूत अखण्डता को बनाए रखने के लिए सभी धर्म परस्पर एक-दूसरे से जुड़ें तथा जिसमें प्रत्येक धर्म का स्वतंत्र अस्तित्व एवं पहचान अक्षुण्ण रहे। साथ ही सभी धर्मों के प्रति सबका समादरभाव हो। दूसरे शब्दों में, वे सभी धर्मों के मैत्रीपूर्ण अस्तित्व और धर्म के मूलभूत लक्ष्य, अर्थात् मानव जाति के कल्याण के लिए काम करने में विश्वास करें। इस धरा पर से धार्मिक-संघर्षों एवं हिंसा की जड़ें काटने का एकमात्र उपाय यह है कि मानव-समाज में सहिष्णुतापूर्ण दृष्टिकोण विकसित किया जाए और सभी धर्मों के बीच सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया जाए।

सन्दर्भ :

1. David C.V., *The Voice of Humanity*, Manikchand Depot, Ujjain P.1.
२. **एक्का मणुस्स जाई-गाथा**, युवाचार्य महाप्रज्ञ द्वारा संकलित, जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ, १९९३, १/२६।
३. **उत्तराध्ययनसूत्र**, सम्पा० - साध्वी चन्दना जी, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, ३/१।
४. **कार्तिकेयानुप्रेक्षा**, सम्पा० - एन०एन० उपाध्ये, श्रीमद् रायचंद्र आश्रम, अगस्त १९६०-४७८.
5. David C.V., *The Voice of Humanity*.
६. तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वाति, विवेचक पं० सुखलालजी संघवी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-५, १/१/१.
७. **भगवतीसूत्र**, १८/१०.
८. **तत्त्वार्थसूत्र**, ५/२१.
९. **योगदृष्टिसमुच्चय**, हरिभद्र, एल०डी० इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी, अहमदाबाद १९७०, १३३.
१०. **सन्मतितर्क**, सिद्धसेन दिवाकर, सम्पा० - पं० सुखलालजी संघवी, जैन श्वेताम्बर शिक्षा मण्डल, बाम्बई, १९३९, ३८.
११. वही, १/२८.
१२. वही, १/२८.

*

श्रमण, वर्ष ५८, अंक २-३
अप्रैल-सितम्बर २००७

वैदिक श्रमण-परम्परा और उसकी लोक-यात्रा

डॉ० विन्ध्येश्वरी प्रसाद मिश्र 'विनय'*

जड़ चेतनात्मक सृष्टिप्रपञ्च में गति और स्थिति की भाँति 'प्रवृत्ति' और 'निवृत्ति' का युग्म भी सहज धर्म के रूप में स्वीकृत है। जैसे- जड़ पदार्थ, प्रकृति के विविध पर्यावर्तों, आघातों अथवा गुरुत्वाकर्षणादि बलों के कारण कभी स्थिति और कभी गति की दशाओं में देखे जाते हैं वैसे ही चेतन (प्राणी) भी स्वाभाविक-रूप से प्रवृत्ति और निवृत्ति इन दो धर्मों का आश्रय लेकर अपनी जीवन यात्रा पूर्ण करते हैं। मनुष्य से इतर प्राणियों तथा अत्यन्त प्राकृत (अविकसित) मनुष्यों में यह प्रवृत्ति-निवृत्ति बहुत कुछ शारीरिक या ऐन्द्रिय-संवेगात्मक होती है किन्तु प्रबुद्ध मनुष्य में यह नियन्त्रण बुद्धि या विवेक के माध्यम से होता है। भारतीय मनीषा इस लौकिक बुद्धि या तर्क सहजात विवेक से ऊपर भी किसी 'दिव्य नियम' या 'समष्टिचेतना' को स्वीकार करती है और उसे ऐन्द्रिय अथवा बौद्ध प्रेरणा से भी अधिक उदात्त और महत्त्वपूर्ण मानती है- मूलत: यही 'वेद' का तात्त्विक सम्प्रत्यय है-

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते।

यस्तं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता।।

'निवृत्तिस्तु महाफला' के नियमानुसार प्रवृत्ति का अन्त या परमस्थिति निवृत्ति ही है; कोई भी प्रत्येक समय शारीरिक या मानसिक रूप से प्रवृत्ति-परायण नहीं रह सकता किन्तु निवृत्ति की स्थिति भी प्रवृत्ति पूर्विका ही हो सकती है अन्यथा उसे निवृत्ति-कहना ही समीचीन न होगा। वैदिक परिप्रेक्ष्य में 'कर्म' और 'ज्ञान' ये ही क्रमश: दोनों के स्वरूप हैं अतएव यहाँ की दार्शनिक-मान्यता यही है कि मनुष्य को प्रथमत: विहित-कर्मों का वेदोक्त पद्धति से अनुष्ठान करना चाहिए इसके अनन्तर ज्ञानात्मिका कर्मनिवृत्ति स्वयं सहज रूप से उपस्थित हो जाएगी-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छताँ समाः।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नर।।[१]

* *आचार्य, वैदिक दर्शन विभाग, संस्कृत विद्या धर्मविज्ञान सङ्काय, काशी हिन्दू विश्व विद्यालय, वाराणसी-५*

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयाँ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।।[२]

इत्यादि उपनिषद्वचनों और-

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।[३]

इस श्रीमद्भगवद्गीतोक्ति का यही वास्तविक आशय है। अतएव भारतीय सनातन-धर्म, प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों को सोपान-क्रम से स्वीकार करता है और साधन-साध्य की भाँति इनमें भिन्नता होते हुए भी परस्परोपकारत्व देखकर यथा ऽधिकार दोनों को उपयोगी और समयानुसार करणीय मानता है। आचार्य शङ्कर अपने गीता-भाष्य की भूमिका में कहते हैं-

स भगवान् सृष्ट्वेदं जगत् तस्य च स्थितिं चिकीर्षु-
र्मरीच्यादीनग्रं सृष्ट्वा प्रजापतीन् प्रवृत्तिलक्षणं
धर्मं ग्राहयामास वेदोक्तम्। ततोऽन्यांश्च सनक-
सनन्दनादीनुत्पाद्य निवृत्तिधर्मं ज्ञानवैराग्यलक्षणं
ग्राह्यामास। द्विविधो हि वेदोक्तो धर्मः प्रवृत्ति-लक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च।[४]

इस प्रकार वैदिक दृष्टि से दोनों का परस्पर सामञ्जस्य है इसलिए यज्ञादि कर्मकाण्डात्मक ब्राह्मण-परम्परा की भाँति निवृत्ति लक्षणात्मिका श्रमण, मुनि या यति परम्परा भी वेदसमर्थित और अभ्यर्हित है और ऋग्वेद से लेकर 'श्रीरामचरितमानस' तक इसकी लोकयात्रा विविध-स्वरूपों में दिखलाई पड़ती है। यह विशुद्ध भारतीय और दार्शनिक दृष्टि है। किन्तु पाश्चात्य-समीक्षकों के प्रभाव से जो इससे भिन्न विकासवादी, आनुमानिक अथवा कल्पना-प्रवण एक तार्किक दृष्टि आविर्भूत हुई उसके अनुसार श्रमण-परम्परा वेदों की कर्मकाण्डात्मक-पद्धति के प्रति विद्रोही-भावना से उत्पन्न एक सर्वथा अवैदिक विचारधारा या साधना-पद्धति है जिसके बीज वेदों (संहिता ग्रन्थों) में कहीं-कहीं प्राप्त होते हैं बाद में आरण्यक, उपनिषद् आदि वैदिक ग्रन्थों में इनका विकास होकर पल्लवन-पुष्पन होता गया।

इसके अनुसार वेद, दिव्य या अपौरूषेय न नहीं, अपितु प्राचीन आर्य-जाति के गो-पालक और ग्राम्य कृषक-रूप ऋषियों के संवेगात्मक या काव्यात्मक उद्गार मात्र हैं जिन्हें भिन्न-भिन्न लोगों ने भिन्न-भिन्न कालखण्डों में रचा और परम्परा से श्रुतरूप में सुरक्षित रखा। वैदिक संस्कृति यज्ञात्मक कर्मकाण्ड और देवपूजा के अन्ध-विश्वासों से जकड़ी थी इसमें ब्राह्मणों या वैदिक पुरोहितों का प्रभाव था जो प्रायः

जीवन के प्रति क्रान्तिकारी और मौलिक चिन्तन से शून्य थे। श्रमण-परम्परा का संगठन बाद में कतिपय प्रगतिशील चिन्तकों द्वारा हुआ जो आगे चलकर अवैदिक या नास्तिक जैन और बौद्ध सम्प्रदायों के रूप में स्थिर और लोक समादृत हुए। इनकी लोकप्रियता से प्रभावित होकर वैदिक-परम्परा, विशेषकर ब्राह्मणों से इतर क्षत्रियों द्वारा प्रवर्तित उपनिषदों की परम्परा में भी 'मुनि', 'यति' या 'संन्यास' रूप धर्म की प्रतिष्ठा हुई। श्रमण, यति, व्रात्य आदि सभी पृथक्-पृथक् थे तथा इनका अस्तित्व प्राग्वेदीय था।[५] इस प्रकार इस दृष्टि का सबसे अधिक आक्षेप चातुर्वर्ण्य व्यवस्था पर है, उसमें भी ब्राह्मण-वर्ण इस मत में सर्वाधिक रूढ़िवादी है। वेद में इसी 'ब्राह्मणवाद' का प्राधान्य है इसलिए 'ब्राह्मण' और 'श्रमण' ये दोनों परस्पर प्रतिगामी परम्पराएँ है। यह इस दृष्टि का सारभूत अभिप्राय है। किन्तु इससे उपरक्त नेत्रवाले समीक्षकों को बृहदारण्यक उपनिषद् में-

स वा एष महानज आत्मा-------तमेतं

वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन

दानेन तपसाऽनाशकेनैतमेव विदित्वा मुनिर्भवति।[६]

यह सन्दर्भ अथवा ऐसे ही अन्य सन्दर्भ दिखलाई पड़ते हैं जिनके अनुसार इनकी पूर्वोक्त मान्यता खण्डित होती हुई दीखती है अर्थात् "जिस आत्मतत्त्व को वेदों का अनुवचन (स्वाध्याय) करके ब्राह्मण लोग जानने की इच्छा करते हैं। यज्ञ, दान तथा तप के द्वारा जिसे जानकर व्यक्ति 'मुनि' हो जाता है। उस आत्मतत्त्व की इच्छा करते हुए परिव्राजक प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं", इस उद्धरणोक्त वचनों के अनुसार जब यह सिद्ध होने लगता है कि 'ब्राह्मण' और 'मुनि' या 'परिव्राजक' नितान्त भिन्न नहीं हैं तथा वेदों का स्वाध्याय भी सामान्य कर्मकाण्ड वाग्जाल मात्र न होकर आत्मतत्त्व को प्राप्त कराने का एक साधन है तब ये लोग बड़ी चतुराई से चातुर्वर्ण्य के अन्तर्गत आने वाले ब्राह्मणवर्ण से इन ब्रह्मणविविदिषु ब्राह्मणों को पृथक् सिद्ध करने लगते हैं।[७] वस्तुत: वैदिक वाङ्मय में कहीं भी ऐसी विभाजक रेखा दिखलाई नहीं पड़ती। वर्णान्तर्गत ब्राह्मण भी इसीलिए ब्राह्मण कहलाता है कि उसमें 'ब्रह्मजिज्ञासा' या 'विविदिषा' होती है, यदि यह न हो तो उसकी अशक्ति है- जिसकी स्थान-स्थान पर निन्दा की गई है और यह कहा गया है कि सच्चे ब्राह्मण में संसार के प्रवृत्तिमार्ग से निर्वेद होता ही है और 'निर्विण्ण' अर्थात् विरक्त होकर वह 'ब्रह्मजिज्ञासु' बनकर प्रव्रज्या भी ग्रहण करता है। ब्राह्मण का शरीर क्षुद्र कामोपभोगों के लिए नहीं अपितु ब्रह्मप्राप्ति के लिए प्राप्त होता है। कतिमय श्रुति स्मृति वचन हमारे इस कथन के प्रमाण रूप में उद्धृत किए जा सकते हैं, यथा-

एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचार्य्यं चरन्ति। तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विध बाल्येन तिष्ठासेत्। बाल्यश्च पाण्डित्यश्च निर्विद्याथ मुनिरमौनश्च मौनश्च निर्विधाथ ब्राह्मणः।[८]

अर्थात् ''इसी आत्मतत्त्व को जानकर ब्राह्मण पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा-रूप 'एषणात्रय' से जागकर (मुक्त होकर) भिक्षु वृत्ति का आचरण करते हैं। इसलिए ब्राह्मण पाण्डित्य अर्थात् आत्म-विज्ञान को 'निर्विध' अर्थात् सम्यक् रूप से जानकर बाल्यभाव में स्थित होकर रहे। यहाँ बाल्य भाव का अर्थ है- ज्ञान के बल का भाव। पाण्डित्य और बाल्यभाव को सम्यक् जानकर 'मुनि' बने और मौन और अमौन को सम्यक् रूप से समझ कर कृतकृत्य हो जाय।''

यहाँ सारे प्रकरण पर आचार्य शङ्कर का भाष्य द्रष्टव्य है। आचार्य के अनुसार, ''ब्राह्मण ही इस एषणात्रय से व्युत्थान का अधिकारी है''-

ब्राहमणानामेवाधिकारो व्युत्थानतो ब्राह्मणग्रहणम्।[९]

एवं उसके ब्राह्मण्य की सार्थकता भी इसी में है कि वह ब्रह्मविद् हो जाय-

एतावद्धि ब्राह्मणेन कर्त्तव्यं यदुत सर्वानात्म प्रत्ययतिरस्करणम्। एतत्कृत्वा कृतकृत्यो योगी भवति। मौनं नाम अनात्मप्रत्यय तिरस्करणस्य फलं तच्च निर्विधाथ ब्राह्मणः कृतकृत्यो भवति। ब्रह्मैव सर्वमिति प्रत्यय उपजायते। स ब्राह्मणः कृतकृत्योऽतो ब्रह्मणः। निरुपचरितं हि तदा तस्य ब्राह्मण्यं प्राप्तम्। अत आह- स ब्राह्मणः केन स्यात्केन चरणेन भवेत? येन स्याद् येन चरणेन भवेत्तेनेदृश एवायम्। येयं ब्राह्मण्यावस्था सेयं स्तूयते।[१०]

इससे तो यही प्रमाणित होता है कि वर्णान्तर्गत ब्राह्मण ही जब उपर्युक्त साधना से संस्कृत होता है तब वह अपने आप को अन्वर्थकता प्रदान करता है और 'ब्राह्मण' और 'मुनि' में तत्त्वतः अन्तर या विरोध नहीं है।''

वेदार्थोपबृंहणात्मक पुराणोत्तम श्रीमद्भागवत में भी कहा गया है-

ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।

कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय च।।[११]

इस प्रकार समग्र वैदिक परम्परा, 'चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मण को ब्रह्मविविदिषा-युक्त ब्राह्मण' से सर्वथा पृथक् होने का कहीं भी सङ्केत नहीं देती

अपितु वर्णान्तर्गत ब्राह्मणशरीरी साधक ही उक्त 'ब्राह्मण्य या 'मुनित्व' का सच्चा अधिकारी है यही सिद्ध करती है। यह बात पूर्वोक्त श्रीमद्भागवत के श्लोक में **''ब्राह्मणस्य हि देहोऽयम्''** वाक्य से पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है अर्थात् 'ब्राह्मणत्व' देह विशेष की भी स्थिति है और एक विशेष साधन की उच्च अवस्था भी हैं। इसमें प्रथम स्थिति आधार है और दूसरी आधेय, अत: 'वर्णब्राह्मण' और 'कर्मब्राह्मण' में भेद की रेखा खींचना कल्पना मात्र हैं बृहदारण्यक उपनिषद् में महर्षि याज्ञवलक्य की प्रव्रज्या का प्रसङ्ग भी[१२] इसी बात का समर्थन करता है।

यद्यपि मन्त्रसंहिताएँ प्राय: कर्मकाण्ड-परक ही हैं फिर भी यत्र-तत्र वैदिक 'श्रमण' या मुनि-परम्परा का यहाँ भी उल्लेख है। ऋग्वेद के दशम मण्डल के अन्तर्गत[१३] 'केशीसूक्त' का निदर्शन है, यहाँ स्पष्ट रूप से पीत या गैरिक वस्त्र अर्थात् बल्कलधारण करने वाले 'वातरशन' के पुत्र 'वातरशना'-मुनियों का वर्णन है, यथा-

मुनयो वातरशना: पिशङ्गा वसते मला।

वातस्यानु ध्राजि यन्ति यद्देवासो अविक्षत।।

उन्मदिता मौनेयेन वाताँ आ तस्थिमा वयम्।

शरीरेदमस्माकं यूयं मर्त्तासो अभि पश्यथ।।

आचार्य सायण के अनुसार सात ऋचाओं वाले इस सूक्त के देवता-अग्नि सूर्य और वायु हैं और 'वातरशन' (नामक मुनि) के पुत्र जूति, वातजूति आदि इसके ऋषि हैं। ये सब सूर्याग्नि और प्राणात्मक वायु के उपासक थे और (सायण के अनुसार) पिंशङ्ग और मैले वस्त्र अथवा वल्कल पहनने वाले थे। 'केशी' शब्द से उपलक्षित होने के कारण सम्भवत: इनकी बड़ी-बड़ी जटाएँ भी रहती थीं और ये लोकबाह्य या उन्मत्त अवस्था में प्राय: मौन रहते थे। आधुनिक समीक्षकों ने यहाँ वैदिकेतर परम्परा के (जैन मुनियों के पूर्वरूप) मुनियों या श्रमणों के रूप में इन्हें देखने का प्रयास किया है, किन्तु यह समीचीन नही हैं क्योंकि वैदिक-परम्परा में आगे भी इनका अनेकत्र सादर उल्लेख है जैसे तैत्तिरीय आरण्यक का यह सन्दर्भ-

स प्रजापतिरेक: पुष्करपर्णे समभवत्। तस्यान्तर्मनसि कामस्समवर्तत। इदं सृजेयम्।

स तपोऽतप्यत्। स तपस्तप्त्वा शरीरमधुनत। तस्य मांसमासीत् ततो अरुणा केतव: वातरशना ऋषय उदतिष्ठन्।[१४]

इसमें अन्य ऋषियों के साथ वातरशन-सञ्ज्ञक ऋषियों की उत्पत्ति प्रजापति से बतलाई गई है। 'कूष्माण्डब्राह्मण' में भी इनका उल्लेख मिलता है,

यथा- **वातरशना ह वा ऋषयश्श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनो बभूवुः**[१५] ध्यातव्य है कि केशीसूक्त के मन्त्रों में इन्हें 'मुनयः' कहा गया है। किन्तु वहाँ सायण अनुक्रमणी की उद्धृति देते हुए स्पष्ट रूप से इनको इस सूक्त के द्रष्टा ऋषि के रूप में भी प्रतिष्ठित करते हैं-

वातरशनपुत्रा जूतिवातजूतिप्रभृतयः प्रत्यृचं क्रमेणर्षयः तथा चानुक्रान्तम्-

केशी मुनयो वातरशना जूतिर्वातजूति-र्विप्रजूतिर्वृषाणकः करिक्रत एतश ऋष्यशृङ्ग श्चैकर्चा कैशिनम्' इति।[१६]

तैत्तिरीय आरण्यक में भी इन्हें 'ऋषि' ही कहा गया है और 'कूष्माण्ड-ब्राह्मण' भी इनके लिए 'श्रमण' शब्द का प्रयोग करते हुए इन्हें ऋषि-रूप में ही व्यपदिष्ट करता है। ऋषि का अर्थ है- 'वैदिकमन्त्रों का द्रष्टा अतएव ये ऊर्ध्वमन्थी सूर्याग्नि और वायु के उपासक 'मुनि' और 'श्रमण' होते हुए भी मूलतः 'ऋषि' ही थे अर्थात् वैदिक परम्परा के प्रतिगामी या विरोधी नहीं थे यह सुतरां स्पष्ट है। आगे श्रीमद्भागवत में भी इनका सन्दर्भ मिलता है और ठीक ऐसी ही शब्दावली वहाँ भी प्रयुक्त है, यथा-

भगवान् मेरुदेव्यां धर्मान्दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुवावतार।[१७]

यहाँ भागवत के प्रसिद्ध और प्रामाणिक टीकाकार श्रीधरस्वामी 'वातरशना' शब्द का अर्थ 'दिगम्बर' अर्थात् वस्त्रविहीन करते हैं। इसके अनुसार यहाँ श्रमण का अर्थ है तपस्वी, 'ऋषि' शब्द का अर्थ है ज्ञानी और 'ऊर्ध्वमन्थिन्' शब्द का अर्थ है नैष्ठिक ब्रह्मचारी।[१८] इनकी इस व्याख्या को भी स्पष्ट करते हुए आचार्य वंशीधर कहते हैं-

वातो वायुस्स एव रशना कटिसूत्रं येषां ते।

श्राम्यन्ति तपन्तीति श्रमणाः। 'श्रमु तपसि खेदे च। ऊर्ध्वमुमस्थोर्ध्वदेशे मन्थन्ति रुन्थन्ति रेते न तूपस्थदेश इत्यूर्ध्वमन्थिनस्तेषां, येषामुपस्थदेशे रेतः कदापि नायातीति भावः।[१९]

अस्तु ऋग्वेद के वातरशना मुनियों में अवैदिक आर्हत-परम्परा के मुनियों के सद्भाव की कल्पना करना वैदिकपरम्पराऽनभिज्ञत्व ही कहा जाएगा। श्रीमद्भागवत के अनुसार भगवान् ऋषभदेव जो श्रीविष्णु के अवतार थे ऐसे ही अवधूतो या परमहंसो की चर्य्या को दिखलाने के लिए प्रकट हुए थे। उनका पथ विशुद्ध वैदिक था। वे पहले सम्राट् रहकर प्रवृत्तिमार्ग से निर्विण्ण होकर फिर निवृत्तिमार्ग में आए थे, अतएव

वैदिक-परम्परा के श्रमण थे किन्तु कतिपय कोमलबुद्धि लोग उनको न समझ सके और उनके नाम पर एक नवीन, पाषण्डप्रवण और अवैदिक मत चला दिया।[२०] श्रीमद्भागवत के पञ्चम और एकादश स्कन्धों में इन्ही ऋषभदेव के नव योगीश्वर पुत्रों कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रमिल, चमस और करभाजन को भी 'श्रमणा:' और 'वातरशना': कहा गया है जो कि सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि रखने वाले वैदिक पद्धति के ही मुनि थे-

श्रमणा वातरशना आत्मविद्याविशारदाः।।

कविर्हरिरन्तरिक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः।

आविर्होत्रोऽथ द्रुमिलश्चमसः करभाजनः।।[२१]

इस प्रकार संहिता से लेकर इतिहास-पुराण और आगे के वैदिक साहित्य तक समृद्धरूप में वैदिक श्रमणों की परम्परा दिखलाई पड़ती है। श्रीविष्णुपुराण में तथा पूर्वोक्त श्रीमद्भागवत के प्रसङ्गों में अवैदिक श्रमणों को इनसे पृथक् स्वीकार किया गया है और उनकी वेशभूषा और आचार-विचारों का परिचय दिया गया है। विष्णुपुराण के अनुसार वैदिकधर्म में संलग्न असुरों का बल कम करने के लिए भगवान् नारायण ने ही अपनी शक्ति से मायामोह-सञ्ज्ञक एक छद्ममुनि को प्रकट किया जिसने नास्तिक मत का प्रवचन करके उन्हें अर्थात् असुरों को व्यामुग्ध कर लिया-

ततो दिगम्बरो मुण्डी बर्हिपिच्छधरो द्विज।

मायामोहोऽसुरान् श्लक्ष्णमिदं वचनमब्रवीत्।[२२]

श्रीवाल्मीकि-कृत रामायण में भी दशरथजी के यज्ञ में ब्राह्मण और तपस्वियों के साथ श्रमणों के भी नित्य भोजन करने की बात कही गई है-

ब्रह्मणा भुञ्जते नित्यं नाथवन्तश्च भुञ्जते।

तापसा भुञ्जते चापि श्रमणाश्चैव भुञ्जते।।[२३]

इस प्रकार वैदिक श्रमणों की एक समृद्ध परम्परा आरम्भ से सतत प्रवर्त्तमान रही है जो विकासवादी शोध-पद्धति की भाषा में आगे चलकर संन्यास धर्म में प्रतिष्ठित हो गई। वस्तुत: उपनिषदों में स्पष्ट तथा विशद रूप से यती और संन्यासी के साथ-साथ अवधूतों की चर्य्या का प्रतिपादन प्राप्त होता है। नारदपरिव्राजकोपनिषद में 'संन्यास ' की विशद् और तात्त्विक समीक्षा करते हुए छह प्रकार के संन्यासों का विवेचन किया गया है।[२४] यहाँ 'अवधूत' या 'परमहंसा' को सर्वत्यागी और दिगम्बर कहा गया है-

यथालब्धोपजीवी स्यान्मुनिर्दान्तोजितेन्द्रियः[२५]

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्वा चरति यो मुनिः।

न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित् ।।[२६]

यहाँ 'मुनि' शब्द के द्वारा वैदिक परम्परा का 'अवधूत' ही अभिप्रेत है। आत्मदर्शन के प्रकर्ष से इस अवधूत का समस्त वैदिक विधि-निषेध गलित हो जाता है और वह 'अतिवर्णाश्रमी' की संज्ञा प्राप्त करता है।[२७] ऐसे प्राज्ञ के लिए फिर वेश का बन्धन नहीं रहता वह चाहे जीर्णकौपीन मात्र को धारण करे या नग्न हो जाय, जटाएँ रखे या मुण्डित मस्तक हो जाय उसके स्वरूप में तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं पड़ता-

जीर्णकोपीनवासाः स्यान्मुण्डी नग्नोऽथ वा भवेत्।

प्राज्ञो वेदान्तविद्योगी निर्ममो निरहङ्कृतिः।।[२८]

यही बात 'जाबालोपनिषद्' में कही गई है-

विवर्णबासा मुण्डोऽपरिग्रहः शुचिरद्रोही भैक्षाणो ब्रह्मभूयाय भवति।[२९]

इस उपनिषद् में ऐसे परमहंसो अर्थात् वैदिक श्रमणों को एक सूची दी गई है, यथा-

तत्रपरमहंसा नाम संवर्त्तकारुणिश्वेतकेतुदुर्वास ऋभुनिदाघजडभरत दत्तात्रेयरैवतक प्रभृतयोऽव्यक्तलिङ्गा अव्यक्ताचारा अनुन्मत्ता उन्मत्तवदाचरन्तस्त्रि दण्डं कमण्डलुं शिक्यं पात्रं जलपवित्रं शिखां यज्ञोपवीतं चेत्येतत्सर्व भूः स्वाहेत्यप्सु परित्यज्यात्मान मन्विच्छेत्।[३०]

आधुनिक दृष्टि से इन उपनिषदो से पूर्ववर्ती कही जाने वाली मुण्डकादि उपनिषदों में भी ब्राह्मण के द्वारा कालान्तर में यज्ञयागादि से ऊपर उठकर अरण्यसेवन, भैक्ष्यचर्य्या आदि करते हुए ब्रह्मविज्ञान की ओर जाने का निर्देश किया गया है-

तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्य्यां चरन्तः।

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।[३१]

इस प्रकार वैदिक श्रमण-परम्परा वेद से लेकर सतत अव्याहत रूप से प्रवर्त्तमान है, अतएव श्रमण-परम्परा को अवैदिक या वेद-विरोधी कहना कथञ्चिदपि न्याय नहीं है।

हमारा मानना है कि प्राचीनकाल से ही एक ऐसी श्रमण-परम्परा भी समानान्तर रूप से चलती रही है जिसने वेद को प्रमाण न मानते हुए अन्त:करण की वैयक्तिक अनुभूति और स्वतन्त्र चिन्तन को महत्त्व दिया और विभिन्न ऐतिहासिक कालखण्डों में अपने स्वरूप को विशद् और लोकप्रिय बनाते हुए यथासम्भव अपने अनुयायियों में वृद्धि की। आर्हत् और बौद्ध-परम्परा ऐसी ही श्रमण परम्पराएँ हैं। इन्होंने वेद की अवहेलना और गर्हा करते हुए भी अधिकांश बातें यथावत् स्वीकार कर लीं और बाद में अपना दर्शन देवशास्त्र और उपासना-पद्धति के साथ कहीं-कहीं नवीन ढंग का आचार भी विकसित कर लिया। जैसे इस परम्परा के यतियों ने अपने को 'ऋषि' 'सन्नयासी' 'अवधूत' या 'परमहंसो' का अभिधान न देकर 'भिक्षु', 'परिव्राजक', 'श्रमण' या 'मुनि' ही कहा। यद्यपि ये समग्र अभिधान (जैसा कि हम पहले निरूपित कर आए हैं) वैदिक-परम्परा के निवृत्तिमार्गियों के लिए भी स्वीकृत थे, किन्तु बहुत दिनों तक अवैदिक निवृत्तिमार्गियों द्वारा व्यवहृत होते हुए समयान्तर में ये उन्हीं के लिए रूढ़ हो गए और इसी कारण से वैदिक परम्परा ने भी इन्हें उपेक्षित कर दिया।

यह सर्वविदित है कि "**तद् विष्णो:परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरय:**"इस ऋग्वेद के मन्त्र में सर्वप्रथम विद्वान् के लिए 'सूरि' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस अर्थ में यह शब्द श्रीमद्भागवत तक प्रयुक्त होता रहा-

तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरय:[३२]

किन्तु आज यह जैन मुनियों के विशेषण के रूप में रूढ़ हो गया है। 'निर्ग्रन्थ' (निगंठ)- शब्द भी श्रीमद्भागवत महापुराण में शुकदेव सदृश ब्रह्मज्ञानियों के लिए प्रयुक्त हुआ है किन्तु आज यह वैदिक परम्परा में उपेक्ष्य हो गया है। ठीक इसी प्रकार 'मुनि' और 'श्रमण' शब्द भी पूर्णतया वैदिक परम्परा के होकर भी जैन परिव्राजकों के लिए तथा भिक्षु और परिव्राजक शब्द बौद्धों के लिए स्थिर हो गए अतएव कतिपय शताब्दियों पूर्व से वैदिकों ने इन शब्दों को व्यवहृत करना या तो समाप्त कर दिया या कम कर दिया।

महाराज भोज से अवान्तरकालीन कश्मीरी पण्डित मम्मटभट्ट के समय तक स्थिति ऐसी हो गई थी कि उस समय 'ब्राह्मण' और 'श्रमण' दोनों शब्द परस्पर विरोधी सम्प्रदायों को व्यक्त करने लगे थे। मम्मट के 'काव्यप्रकाश' में भूतपूर्व अर्थ को प्रतिपादित करने के लिए 'ब्राह्मण श्रमणन्याय' की चर्चा की गई है। आगे चलकर यहीं से भेद और भ्रम का पल्लवन और पुष्पन होता गया और पाश्चात्य समीक्षकों ने 'ब्राह्मण'और 'श्रमण' दोनों धाराओं को परस्पर विरोधी धाराओं के रूप में निरूपित किया। वस्तुत: अ-वैदिक आर्हत् और सौगत परम्परा से पृथक् वैदिक श्रमण-परम्परा

का भी एक सुदीर्घ इतिहास है और परिवर्तित परिवेश में विविध साम्प्रदायिक संन्यासियों या वैरागियों के रूप में यह अभी भी सुतरां प्रवर्त्तमान देखी जा सकती है।

सन्दर्भ

१. **ईशावस्योपनिषद्**, मन्त्र २

२. वही, मन्त्र ११

३. **श्रीमद्भगवद्गीता** ४/३३ उत्तरार्द्ध

४. **श्रीमद्भगवद्गीता** शाङ्करभाष्य का उपक्रम

५. द्रष्टव्य- डॉ० सीताराम दुबे कृत **'बौद्धसङ्घ का प्रारम्भिक विकास'** ग्रन्थ में प्रो० विश्म्भर-शरण पाठक का 'पुरोवाक् (प्रकाशक - पूर्वासंस्थान, गोरखपुर १७८८)

६. **बृहदारण्यक उपनिषद्** ४/५/२२

७. प्रो० विश्वम्भर शरण पाठक के पूर्वोद्धृत 'पुरोवक्' के पृष्ठ २७ में सूचित रिचर्ड फिक की पुस्तक 'सोशल - आगेनाइजेशन' (पृ० १७२-१७३) का उद्धरण तथा यहीं पर आगे के अनुच्छेद में अभिव्यक्त प्रो० पाठक का अपना अभिमत।

८. द्रष्टव्य - **बृहदारण्यक उपनिषद्** ३/५/१

९. द्रष्टव्य इसी स्थल पर शाङ्करभाष्य

१०. वही

११. **श्रीमद्भागवत**, ७।

१२. **बृहदारण्यक उपनिषद्** ४/५/१-१५

१३. **ऋग्वेद**, दशममण्डल, १३४ सूक्त

१४. **तैत्तिरीआरण्यक** १/२३/२.

१५. **कूष्माण्डब्राह्मण**, २/७

१६. **ऋग्वेद** १०/१३ के आरम्भ में सायणभाष्य

१७. **श्रीमद्भागवत** ५/३/२०।

१८. यहीं पर श्रीधरी टीका

१९. इसी स्थल पर वंशीधरी टीका

२०. **श्रीमद्भागवत** ५/६/७-१०.

२१. वही ११/२/२०-२१

२२. **श्रीविष्णुपुराण** ३/१८/१-२

२३. **वाल्मीकीयरामायण**, बालकाण्ड, सर्ग १४, श्लोक १२

२४. **नारदपरिव्राजकोपनिषद्**, पञ्चमोपदेश

२५. वही, पञ्चमोपदेश, मन्त्र १४

२६. वही, मन्त्र १६.

२७. वही, षष्ठोपदेश मन्त्र ७ से २२ तक

२८. वही पष्ठोपदेश, मन्त्र २४.

२९. **जाबालोपनिषद्**, पञ्चमखण्ड

३०. वही, षष्ठ खण्ड

३१. **मुण्डकोपनिषद्** २/११/१२

३२. **श्रीमद्भागवत** १/१/१

श्रमण, वर्ष ५८, अंक २-३
अप्रैल-सितम्बर २००७

आप्तोपदेशः शब्दः की जयन्तभट्टीय व्याख्या

डॉ० जयन्त उपाध्याय* संजय कुमार सिंह**

जयन्त भट्ट का शब्द-प्रमाण-विषयक मंत्र, मुख्यत: अक्षपादसूत्र **'आप्तोपदेशः शब्दः'** का विश्लेषण है। जब किसी ज्ञान का कारण शब्द या वाक्य होता है, तब वह ज्ञान शाब्द ज्ञान होता है और उसका कारणभूत शब्द ही शब्द-प्रमाण होता है। पागल, भ्रान्त, या संशयित व्यक्ति के शब्द से प्रमा उत्पन्न नहीं होती, अत: केवल वह शब्द, शब्द प्रमाण है जो प्रमा का जनक है। इसीलिए शब्द के प्रमाणत्व का निर्धारण न्यायसूत्रकार ने आप्तोपदेशत्व से किया। सूत्र का 'शब्द' पद लक्ष्य है तथा 'आप्तोपदेशः' पद लक्षण है।[१] आप्तोपदेश पद का समास विग्रह दो प्रकार से हो सकता है- आप्त का उपदेश और आप्त उपदेश। प्रथम विग्रह में आप्तत्व वक्ता का विशेषण है तथा द्वितीय में उपदेश का। न्यायवार्तिककार ने आप्तपद को उपदेश का विशेषण स्वीकार किया है।[२] भाष्यकार के अनुसार आप्तपद का अर्थ यह है कि वह उपदेष्टा जो **यथाप्रमित** अर्थ का श्रोता के लिए ज्ञान कराने की इच्छा से उपदेश करे, आप्त कहा जायेगा।[३] अर्थ की उपलब्धि आप्ति है, अत: जो अर्थ का (किसी प्रमाण के माध्यम से) साक्षात्कार कर चुका हो आप्त होता है। यह आप्त ऋषि, आर्य, म्लेच्छ कोई भी हो सकता है, परन्तु उसका आवश्यक धर्म अर्थ की उपलब्धि कराना है। किसी अर्थ विशेष के स्वरूप को जानता हुआ व्यक्ति भी उस स्वरूप का यदि अन्यथा प्रकाशन करता है तो वह आप्त नहीं होगा। सम्भवत: इसीलिए वार्तिककार आप्त को उपदेश का विशेषण मानते हैं। आप्तपद के ग्रहण की चरितार्थता की ओर जयन्त भट्ट का संकेत है कि यदि केवल 'उपदेश' शब्द मात्र शब्द-प्रमाण का लक्षण होता है, तो उपदेश और शब्द दोनों पद एक-दूसरे के पर्याय हो जायेगें और तब लक्ष्य-लक्षण भाव की उपपत्ति नहीं होगी। दूसरा दोष यह होगा कि लक्षण में अतिव्याप्ति दोष आ जायेगा, क्योंकि तब ऐसा उपदेश भी प्रमाण की श्रेणी में आ जायेगा जो शाब्द प्रमा को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हैं, अत: आप्तपद का ग्रहण आवश्यक है।[४] शब्द-लक्षण के प्रसंग में जयन्त भट्ट ने नैयायिकों की विभिन्न

* *दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी*
** *एस०आर०एफ० (यू०जी०सी०) दर्शन एवं धर्म विभाग, का०हि०वि०वि०, वाराणसी*

मान्यताओं का उल्लेख किया है। इसीलिए ऐसा प्रतीत होता है कि शब्द-लक्षण के निर्धारण के सम्बन्ध में सूत्रकार के बाद जयन्त भट्ट के काल तक बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ के फलस्वरूप नैयायिकों में कई मत प्रचलित हो गये थे। जयन्त भट्ट ने यहाँ किसी मत विशेष का खण्डन-मण्डन नहीं किया है, किन्तु उनका अपना समर्थन विभिन्न पदों के अध्याहार पक्ष को है, क्योंकि अन्यत्र भी इन्होंने इन पदों के अध्याहार को आवश्यक समझा है।

'प्रत्यक्ष लक्षकसूत्र'[५] के कुछ पदों को जयन्त भट्ट ने प्रमाण-लक्षण के संदर्भ में अध्याहृत किया है, अतः वे पद यहाँ भी अध्याहरणीय हैं। **'उपदेशः शब्दः'** में उपदेश पद शब्द का पर्याय मात्र है जिसकी प्रसक्ति बोध के कारक न होने वाले शब्द में भी होगी अतः जयन्त भट्ट इसके लिए 'उपमान लक्षकसूत्र'[६] से साध्य-साधन पद का अध्याहार करते हैं। तात्पर्य यह है कि केवल वह शब्द शब्द-प्रमाण होगा जो किसी साध्य का साधन हो अर्थात् कारण हो तब भी उत्तरवर्ती शब्द का कारण होने के कारण वह पूर्ववर्ती शब्द प्रमाण की प्रसक्ति से मुक्त नहीं होगा, अतः प्रत्यक्ष-सूत्र से 'ज्ञान' पद का अध्याहार होना चाहिए। यह ज्ञान स्मृति, विपर्यय, संशय रूप का भी हो सकता है, जो प्रमा नहीं है, अतः इनके निरास के लिए प्रत्यक्ष-सूत्र से ही 'अर्थ', 'अव्यभिचार' और 'व्यवसायात्मक' पदों की अनुवृत्ति भी आवश्यक है। इस प्रकार अव्यभिचारादि विशेषणों से युक्त यथार्थ ज्ञान का जनक जो उपदेश होगा, उसे ही शब्द-प्रमाण कहेंगे।[७] इस मत के अनुसार पूर्वसूत्रों से अध्याहृत आवश्यक पदों से विशिष्ट उपदेश पद ही शब्द-प्रमाण का लक्षण है। आप्तपद का यहाँ कुछ भिन्न प्रयोजन है। आप्तपद शब्द-प्रमाण के लिए नहीं प्रयुक्त हुआ है, वरन् लक्षण के निश्चय के लिए प्रयुक्त हुआ है।[८] लक्षणविनिश्चय का तात्पर्य यह है कि अव्यभिचारादि विशेषणों वाले यथार्थ ज्ञान का कारणभूत उपदेश शब्द-प्रमाण होता है - यह प्रमाण का लक्षण किया गया। दृष्ट विषयों में प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों की गति होने से लक्षण का निश्चय हो जायेगा। जैसे - किसी ने कहा - 'यह नदी एक कोस तक टेढ़ी है' इसे हम प्रत्यक्ष द्वारा देखकर यह कह सकते हैं कि वक्ता का उपदेश प्रमा का जनक था, परन्तु अदृष्ट विषयों में जहाँ अस्मद्विध लौकिक प्राणियों की कोई गति ही नहीं और न ही प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान आदि प्रमाणान्तरों की गति है, उनके विषय में प्रमाण के प्रामाण्य का निर्धारण कैसे होगा? इसलिए सूत्रकार ने आप्तपद का ग्रहण किया है।[९] आप्तपुरुष का उपदेश दृष्ट विषयों में अव्यभिचारादि विशेषित प्रमा का जनक देखा जाता है, ठीक इसी प्रकार अदृष्ट विषयों में आप्त का उपदेश अव्यभिचारादि विशिष्ट प्रमा का जनक होगा। लक्षणविनिश्चय का यही ढंग सूत्रकार ने इन्द्रिय लक्षण[१०] के प्रसंग में अपनाया है। इन्द्रियाँ अपने नियत विषय से

सम्बद्ध ज्ञान की जनक होती हैं। इस बात के निर्धारण के लिए सूत्रकार ने 'भूतेभ्यः' पद का ग्रहण किया है।[११] इन्द्रियाँ भूत-प्रकृतिक होती हैं और भूतों के गुण नियत होते हैं, अतः इन्द्रियाँ नियत गन्धादि अर्थों के ज्ञान का कारण होती हैं। यदि इन्द्रियाँ भूतों से उत्पन्न न होती तो इनके लक्षण - 'स्वविषयोपलब्धिजनकत्व' का निर्वाह नहीं हो सकता था।[१२] इसलिए 'भूत' पद का ग्रहण लक्षण के निश्चय के लिए हुआ है, इसी प्रकार लक्षण के निश्चय के लिए ही प्रस्तुत पद में आप्तपद का ग्रहण हुआ है। 'यहाँ वटवृक्ष में यक्ष निवास करता है', इस तरह का का ऐतिह्य प्रमाण भी पौराणिकों द्वारा माना गया है; जिसका अन्तर्भाव नैयायिक शब्द-प्रमाण में करते हैं। जयन्त भट्ट का मत है कि चूँकि ऐतिह्य भी उपदेश रूप होता है, अतः 'उपदेशः शब्दः' इस चरण के अनुसार ही ऐतिह्य प्रमाण का अन्तर्भाव शब्द-प्रमाण में होगा, अन्यथा यदि 'आप्तोपदेशः शब्द' इसे शब्द-प्रमाण मानने पर उसके मूल वक्ता के ज्ञात न होने से[१३] और प्रस्तुत वक्ता की आप्तता का संदेह होने से ऐतिह्य की आप्तोपदेशता सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में ऐतिह्य का शब्द में अन्तर्भाव न हो पाने से प्रमाणान्तरत्व की आपत्ति होगी, जबकि सूत्रकार ने सूत्र में केवल चार प्रमाणों का ही संकीर्तन किया है, इसलिए सूत्रकार का उद्देश्य आप्तपद के ग्रहण के लिए लक्षणविनिश्चय ही रहा होगा। अतः आप्तपद लक्षण का घटक नहीं है।[१४]

नैयायिक यह मानते हैं कि 'आप्तोपदेशः शब्दः' यही परिभाषा युक्तियुक्त है और इसके निश्चय के लिए आप्तपद का ग्रहण भी ठीक है, परन्तु पूर्वसूत्रों से अव्यभिचारादि विशेषण पदों की अनुवृत्ति ठीक नहीं है। इसका कारण यह है कि यहाँ केवल शब्द-प्रमाण का लक्षण देना अभीष्ट है। प्रमाण के सामान्य लक्षण से ही स्मृति, संशय, विपर्यय आदि का निषेध हो गया है, अतः यहाँ शब्द प्रमाण के प्रमाणत्व निर्धारण के लिए सामान्य-लक्षण आवश्यक नहीं है, वरन् सजातीय प्रत्यक्षादि प्रमाणों का व्यवच्छेद ही यहाँ अभीष्ट है और इसके लिए 'उपदेश' पद पर्याप्त है।[१५] जहाँ तक 'उपदेश' और 'शब्द' पदों की पर्यायता का प्रश्न है, तो पर्याय-पद रखने की यह प्रवृत्ति तो सूत्रों में अन्यत्र भी देखी जा सकती है।[१६] 'न्यायसूत्र' में बुद्धि का लक्षण 'उपलब्धि' दिया है[१७] जो बुद्धि का ही पर्याय है, तथापि वह सजातीय व्यवच्छेदक है, अतः पर्यायता होना कोई दोष नहीं है।[१८] अतः पर्यायता के निराकरण के लिए भी अव्यभिचारादि विशेष पदों की अनुवृत्ति की कोई आवश्यकता नहीं है।

नैयायिकों का तीसरा भी पक्ष है जो न तो उक्त वर्णित प्रथम पक्ष की तरह ज्ञानादि पूर्वोक्त सूत्रों की अनुवृत्ति को आवश्यक मानता है, और न ही द्वितीय पक्ष के शब्द-प्रमाण लक्षण के लिए सामान्य-लक्षण और विशेष-लक्षण की गवेषणा को

आवश्यक मानता है, वरन् इस मत में 'आप्तोपदेशः शब्दः' यह शब्द-प्रमाण का पूर्ण लक्षण है। ऐसे शब्द के द्वारा किसी वस्तु का उपदेश ही नहीं किया जा सकता जो न तो किसी कार्य का कारण हो, न शब्दान्तर का कारण से उक्त कोई प्रसंग आता है, तो उसके उच्चारण को उपदेश ही नहीं कह सकते। अतः शब्द-प्रमाण का लक्षण 'उपदेश' शब्द के ही निर्वचन पर आधृत है। उपदेश पद के निर्वचन द्वारा उक्त प्रसंगों की निवृत्ति हो जाती है। 'रथ्यापुरुष' आदि 'विपरीतार्थक' वचन होंगे और इसमें उक्त प्रसंग भी आप्तदित न होंगे, अतः विपरीत प्रतीति के कारणभूत 'रथ्यापुरूष' जैसे पदों के शब्द-प्रमाण से निरास के लिए सूत्रकार ने आप्तपद को ग्रहण किया है। विपर्यय ज्ञान के कारणभूत वाक्य कभी भी आप्तपुरुष के उपदेश नहीं हो सकते। शब्द-प्रमाण में ऐतिह्य प्रमाण के अन्तर्भाव के विषय में इनका मत है कि यदि कोई ऐतिह्य यथार्थ ज्ञान का कारण है तो उसका अन्तर्भाव शब्द में हो जायेगा,[१९] क्योंकि उपदेश वह होता ही है और आप्तोच्चारणन्तरत्व का अनुमान प्रमाण से ज्ञान हो जाता है। अतः ऐतिह्य प्रमाण के प्रमाणान्तरत्व की प्रसक्ति भी न होगी। इसलिए 'आप्तोपदेशः शब्दः' यही शब्द-प्रमाण का लक्षण होना चाहिए।

उपदेश पद का सामान्य अर्थ कथन या अभिधान-क्रिया किया जाता है। फिर यह अभिधान-क्रिया क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में जयन्त भट्ट ने पूर्वपक्ष की ओर से चार विकल्प प्रस्तुत करके सिद्धान्त में अभिधान-क्रिया के अर्थ का प्रकाशन किया है -

१) यदि यह मानें कि अभिधान-क्रिया वह साधन है, जिससे ज्ञान उत्पन्न होता है, तो चक्षुरादि भी प्रतीति के कारण है, अतः चक्षुरादि में भी उपदेशत्व के प्रसंग होंगे।

२) यदि यह स्वीकार करें कि प्रतीति का वह कारण अभिधान-क्रिया शब्द है जो ज्ञात होता हुआ प्रतीति का कारण होता है, अतः शब्द ज्ञात होकर प्रतीति का कारण होने से अभिधान-क्रिया होगा, जबकि इन्द्रियाँ आज्ञयमान ही प्रतीति में कारण होती हैं, तो इसमें दोष आ जायेगा कि धूमादि जो ज्ञायमान है अनुमिति आदि का कारण होता है; उपेदशत्व से युक्त हो जायेगा।

३) यदि यह कहें कि अभिधान-क्रिया अपने सदृश प्रतीति का कारण होती है, क्योंकि धूमादि स्व-विसदृश वह्नि आदि का ज्ञान कराते हैं, जबकि शब्द में जिस विषय वाला बोध होता है, उसी विषय वाला शब्द होता है। इस पक्ष में यह दोष है कि बिम्ब अपने सदृश प्रतीति का हेतु होने से उपदेश हो जायेगा, क्योंकि पैर आदि का प्रतिबिम्ब बिम्ब सदृश होता है। दूसरी ओर शब्द स्वसदृश प्रत्यय का हेतु नहीं

बनता, क्योंकि शब्द तो आकृत्यादि से रहित होता है, जबकि उससे आकृत्यादि से युक्त अर्थ का ज्ञान होता है, अत: शब्द में अनुपदेशत्व का प्रसंग होगा।

४) यदि यह कहें कि यह शब्द से अवच्छिन्न प्रतीति का हेतु होता है तो कर्ण भी शब्दावच्छिन्न होने से उपदेशत्व से प्रसक्त होगा और दूसरी ओर शब्द अपने अवच्छेद से युक्त प्रतीति उत्पन्न नहीं कर सकता। अत: शब्द अनुपदेशत्व प्रसंग से युक्त होगा।

५) यदि यह कहें कि अभिधान-क्रिया ऐसी प्रतीति है जिसका कारण शब्द है, तब भी उचित नहीं है, क्योंकि अभिधान-क्रिया के प्रति भी शब्द से उपदेशत्व प्रसंग होगा तथा आकाशानुमान में शब्द का आश्रय होने के कारण शब्द उसका कारण होगा, अत: यहाँ भी शब्द में उपदेशत्व का प्रसंग होगा, जबकि यहाँ अनुमान होता है। इस प्रकार उपदेश को यदि अभिधान-क्रिया मानें तो अभिधान-क्रिया का अपना स्वरूप ही निश्चित नहीं, तब उससे उपदेश का अर्थ कैसे ग्रहण करेंगे?

सिद्धान्त पक्ष में जयन्त भट्ट अभिधान-क्रिया का पूर्ववर्णित सभी विकल्पों से भिन्न अर्थ प्रस्तुत करते हैं। अभिधान-क्रिया श्रोत्रग्राह्य वस्तु (शब्द) से उत्पन्न होने वाली तथा श्रोत्रग्राह्य वस्तु (शब्द) के अर्थ का ज्ञान है। लोक में अभिधान-क्रिया का इसी अर्थ में व्यवहार होता है[२०] जो अर्थ उक्त या अभिहित है वही लोक में व्यपदिष्ट होता है, क्योंकि वह व्यपदिष्ट होने वाला अर्थ उसी रूप की प्रतीति का विषय होता है। यहाँ जयन्त भट्ट ने वैयाकरणों के इस मत का खण्डन किया है कि अर्थ-प्रतीति वर्णों से नहीं, वरन् वर्णों से अभिव्यक्त स्फोट से होती है।[२१] जयन्त भट्ट का कहना है कि श्रोत्र से ग्रहण होने वाला विषय शब्द होता है और वर्ण राशि रूप यह शब्द ही शाब्द ज्ञान का कारण है। श्रोत्रज ज्ञान ही वर्ण का स्वरूप है। यदि यह मानें कि जिससे अर्थ प्रतीति हो, वही शब्द है, तब धूमादि द्वारा अग्नि आदि का अनुमान होने के कारण धूमादि भी शब्द हो जायेगें, अत: श्रोत्र से ग्राह्य वर्ण-राशि से जन्य ज्ञान का जो कारण धूमादि होता है, वह शब्द है। अत: शब्द द्वारा अर्थ-प्रतीति तभी सम्भव है जब वह श्रोत्रगृहीत हो और तभी शब्द का शब्दत्व है। शब्द किसी अर्थ की प्रतीति कराता हुआ ही शब्द कहा जाएगा। यदि शब्द और अर्थप्रतीति का कोई सम्बन्ध न मानें तो शब्द का शब्दत्व समाप्त हो जायेगा। यदि यह कहें कि प्रतीति तो संविदात्मक होती ही है, अत: अभिधान-क्रिया कोई नया ज्ञान-भेद है और इस प्रतीति का जो कारण हो वही उपदेश है, तो अतिव्याप्ति दोष आ जाता है, क्योंकि प्रतीति का कारण न केवल अभिधान-क्रिया होती है, वरन् इन्द्रियादि अर्थ, धूमादिलिंग एवं इनका ज्ञान, सादृश्य आदि ज्ञान भी होते हैं। अत: इन सबसे उपदेशत्व की प्रसक्ति

होगी। जयन्त भट्ट इस प्रश्न का भी समाधान प्रस्तुत करते हैं और कहते हैं कि प्रतीति सदा संविदात्मक ही होती है, किन्तु करण-भेद से भिन्न-भिन्न स्वरूप वाली हुआ करती हैं। चक्षुरादि से उत्पन्न प्रतीति प्रत्यक्ष और श्रोत्रग्राह्य वस्तु (शब्द या वर्ण-राशि) से उत्पन्न प्रतीति शब्द है। अतः प्रतीति के सर्वदा होते हुए भी उसकी भिन्न-रूपता का निषेध नहीं किया जा सकता। दृश्यते, अनुमीयते, अभिधीयते - ये शब्द एक-दूसरे के पर्याय नहीं हैं, वरन् इनमें अर्थ-भेद है।[२२] इसलिए एक विशेष प्रकार की प्रतीति को उत्पन्न करने में जो करण बने, वह उपदेश होता है और उस प्रतीति विशेष का स्वरूप श्रोत्रग्राह्य वस्तु जन्य प्रतीति होगा, जो अन्य प्रत्यक्ष अनुमित्यादि प्रतीतियों से भिन्न स्वभाव का होगा। आकाशानुमान में शब्द की लिंगता तो होती है, परन्तु शब्द-लिंग जन्य आकाशानुमिति रूप प्रतीति शाब्द नहीं होती है, अतः यहाँ भी अभिधान-क्रिया की अतिव्याप्ति न होगी। इसलिए जयन्त भट्ट ने यह निर्विवाद रूप से सिद्ध किया है कि उपदेश वह अभिधान-क्रिया है जो श्रोत्रग्राह्य वस्तु से जन्य है और श्रोत्रग्राह्य वस्तु से उत्पन्न प्रतीति रूप है।[२३]

जयन्त भट्ट ने सामान्यतया भाष्यकार द्वारा किये गये आप्त लक्षण[२४] की विवेचना प्रस्तुत की है। स्वयं प्रत्यक्षादि प्रमाणों से किसी विषय का प्रमाता यथादृष्ट उस प्रमेय अर्थ स्थापना करने की इच्छा से प्रवृत्त होकर जब उपदेश करता है, तब उसे आप्त कहते हैं। आप्तता के लिए चार बातें आवश्यक हैं -

१) उपदेष्टा उपदेष्टव्य विषय के बारे में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान या शब्द में से किसी भी प्रमाण द्वारा यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर चुका हो।

२) उपदेष्टा जिस साक्षात्कृत अर्थ का उपदेश कर रहा है, उसका वैसा ही उपदेश हो, जैसा कि उसने अपने साक्षात्कार के द्वारा जाना है, विषय की अतिशयोक्तिपूर्ण या अपूर्ण या पक्षपातपूर्ण उपदेश न हो।

३) वक्ता वीतराग हो। यह हो सकता है कि स्वयं साक्षात्कृतधर्मा होने पर भी वक्ता की किसी पक्ष विषय के प्रति विशेष राग या द्वेष हो, जिससे वह यथादृष्ट अर्थ का उपदेश तोड़-मरोड़ कर भिन्न प्रकार से करे, अतः उसकी आप्तता संदिग्ध हो जायेगी। ऐसी स्थिति के निवारण के लिए ही **'चिख्यापयिषया प्रयुक्तः'** पद का ग्रहण हुआ है।

४) **आप्तता** के लिए आवश्यक है कि वक्ता में प्रतिपादन कौशल हो, अर्थात् वह दृष्ट अर्थ का तथैव उपदेश कर सके। किसी विषय का साक्षात्कृतधर्मा वीतराग मूक प्रमाता प्रतिपादन कौशल के अभाव में उपदेष्टा नहीं होगा।

इस प्रकार वीतरागता युक्त इच्छा और प्रतिपादन-कौशल - ये दोनों धर्म विशेषत: आप्तता के प्रयोजक हैं, क्योंकि वीतराग भी मूक उपदेश देने में असमर्थ होने के कारण आप्त नहीं होता और बोलने में समर्थ भी साक्षात्कृतधर्मा वीतराग न होने के कारण या तो उपदेश ही नहीं करेगा या तद्भिन्न उपदेश करेगा, अत: आप्त नहीं कहा जायेगा।[२५] सर्वथा वीतरागत्व बहुत कम लोगों में होता है, अत: बिरले ही लोग आप्त होते हैं।[२६] उपर्युक्त विशेषणों से युक्त ऋषि, आर्य और म्लेच्छ सभी आप्त हो सकते हैं। ऋषि लोग वीतराग होते हैं, इसलिए वे सभी आप्त होते हैं, परन्तु आर्यों एवं म्लेच्छों में से कोई विरला ही आप्तता के उक्त लक्षणों वाला होता, अत: विरला ही कोई आप्त होता है। जयन्त भट्ट ने सांख्यशास्त्र के विचारक माठर की मान्यता की ओर संकेत करते हुए कहा है कि लोगों ने दोषक्षय को आप्ति कहा है,[२७] उनके मत में इतना परिष्कार आवश्यक है कि केवल प्रतिपाद्य अर्थों के विषयक पक्षपात आदि रूपों वाले दोषों का क्षय स्वीकार करें, अन्यथा उनका आप्त का लक्षण दोषपूर्ण हो जायगा, क्योंकि ऐसा न मानने पर लोक-व्यवहार में आने वाली आप्तता की अवधारणा बाधित हो जायेगी, क्योंकि प्रतिपाद्य अर्थ में अपूर्णत्वादि दोषों का राहित्य वहाँ उपलब्ध न होगा। जयन्त भट्ट का मत है कि आप्त के ये सभी विशेषण ईश्वर में घटित होते हैं। धर्म ईश्वर को प्रत्यक्षगोचर होता है, अत: वह साक्षात्कृतधर्मा है। परमकारुणिक ईश्वर ने वेद के रूप में यथादृष्ट अर्थ का उपदेश किया है, अतएव ईश्वर परमाप्त-प्रमाण है और परमाप्त ईश्वर के उपदेश होने से वेद शब्द-प्रमाण हैं, जिन्हें आगम-प्रमाण भी कहा जाता है।

संदर्भ :

१. अत्र शब्द इति लक्ष्यपदम्। आप्तोपदेश इति लक्षणम। तात्पर्यटीका, १/१७.

२. तस्माद् आप्तश्चासावुपदेशश्चेति युक्तम्, नाप्तस्योपदेश इति। नैष: दोष:। - **न्यायवार्तिक,** १, १, ७.

३. आप्त: खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टयार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त: उपदेष्टा। - **न्यायभाष्य**, १, १, ७.

४. उपदेश: शब्द: इत्युच्यमाने पर्यायमात्रोच्चारणादकारके शब्दमात्रे प्रसक्ति:। - **न्यायमंजरी**, सम्पा० - महो० गंगाधर शास्त्री तैलंग, ई०जे० तजरस एण्ड कं० बनारस, १८९५, भाग १, पृ० १५०.

५. **न्यायसूत्र**, १, १, ४.

६. वही, १, १६.

७. तद्विनिवृत्तये पूर्वसूत्रात् साध्यसाधनपदमाकृष्यते। तथाऽपि शब्दान्तरजनके प्रसक्तिरिति प्रत्यक्षसूत्रात् ज्ञानपदस्य स्मृतिजनकस्य व्यवच्छेदार्थं चार्थग्रहणस्य संशयविपर्याजनकनिराकणाय च व्यवसायात्मकाव्यभिचारपदयोरनुवृत्तिरित्येवमव्यभिचारादिविशेषणार्थप्रतीतिजनकः उपदेशः शब्द इत्युक्तं भवति। - वही।

८. आप्तग्रहर्ण च लक्षणनिश्चयार्थमाहुः - वही।

९. अव्यभिचारादिविशिष्टार्थोपलब्धिजनकत्वं प्रमाणलक्षणम्। तद् दृष्टे विषय उपदेशस्य प्रमाणान्तरसंवादसम्भवान्निश्चीयेतापि, अदृष्टे तु विषये प्रमाणान्तरसंवादासंभावत् कथं तद्विनिश्चय इति तदर्थमाप्तग्रहणम्। आप्तस्योपदेशो दृष्टे विषयेऽव्यभिचारादिविशेषणार्थोपलब्धिजनकत्वेन दृष्टः, अदृष्टेऽप्याप्तोपदेशरूपत्वात् तथाविधो भवत्येति। - **न्यामंजरीग्रंथिभंग**, सम्पा० - नगीन जी शाह, प्रका० लाल भाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति पिद्यामंदिर, अहमदाबाद, १९७२, पृ० ७१.

१०. घ्राणरसनचक्षुः त्वकश्रोर्णान्द्रियाणि भूतेभ्यः। - **न्यायसूत्र**, १, १, १२.

११. यथानियतगन्धाद्युपलब्धिजनकत्वं लक्षणं घ्राणादीनां कथं विनिश्चीयेतेति तद्विनिश्चायार्थं भेतूभ्यः इति पदम्। विशिष्टिभूतप्रकृतिकत्वाद् भवति नियतार्थो पलब्धिजनकत्वं लक्षणमिति। - **न्यायमंजरी**, ग्रंथिमंजरी तथा ग्रंथिभंग, पृ० ७१.

तथापि च, भूतेभ्य इति। नानाप्रकृर्तानामेषां सतां विषयनियमः नैकप्रकृतीनाम्। सति निर्वहति, च विषयनियमे स्वविषग्रहणनलक्षणत्वं भ्जवति। - न्यायभाष्य, १, १, १२.

१२. भेतूभ्यः इति किमर्थम् ? उक्तं हीन्द्रियाणां स्वविषयग्रहणं भूतकृतित्वे सतिनिर्विहन्ति नान्यथेति तद्विनिश्चयार्थ यथाप्तोपदेशः शब्द इत्याप्तग्रहणम्। विषयोपलब्धिलक्षणत्वं हि इन्द्रियाणां भूतप्रकृतित्वे सति निर्वहति, नान्येथेति। - **न्यायमंजरी**, भाग-२, पृ० ४८.

१३. इति होचुरित्यनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारमपर्यमैतिह्यम्। - **न्यायभाष्य**, २, २, १.

१४. अन्यथा ऐतिह्यस्य अज्ञातप्रवक्तृकत्वेन आप्तोपदेशरूपत्वाभावत् अतिरिक्तप्रमाणतातिः। सूत्रे तु चत्वाययेंव प्रमाणनि निर्दिष्टानि, तेन गम्म्यते आप्तपदं न लक्षघटकमभिमतं सूत्रकर्तुः। **न्याय सौरभ**, पृ० ३९७.

१५. **न्यायमंजरी**, भाग-१, पृ० १५०.

१६. तत्र च पर्यायतापर्याप्तमुपदेशपदमेव बुद्ध्यादिपदवदिति किं विशेषणानुवृत्तिक्लेशेनेति। - वही, पृ० १५०.

१७. बुद्धिरूपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् । - **न्यायसूत्र** १, १, १५.

१८. यथा 'बुद्धिरुपलब्धिः' इत्यत्र पर्यायाणामेव लक्षणत्वमुक्तम् । - **न्यायमंजरी ग्रंथिभंग**, पृ० ७१.

१९. ऐतिह्यो यथार्थप्रतीतिहेतावाप्तानुमानान्न प्रमाणान्तरत्वमिति । **न्यायमंजरी**, भाग-१, पृ० १३७.

२०. श्रोत्रग्राह्यवस्तुकरणिका तदर्थप्रतीतिरभिधानक्रिया, इत्थं लोके व्यवहारात् । - वही, भाग-१, पृ० १५१.

२१. **महाभाष्य**, पृ० १६.

२२. सा चक्षुरादिकरणिका प्रत्यक्षफलं, श्रोत्राग्राह्यकरणिका शब्दफलम्। न हि दृश्यते अनुमीयते, अभिधीयते इति पर्यायशब्दः। - न्यायमंजरी भाग १, पृ० १५१.

२३. तत्प्रतीतिविशेषजनने च शब्दास्योपदेशत्वमुच्यते - **न्यायमंजरी**, भाग-१, पृ० १५१.

२४. आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेशष्टाचेति। - वही, १५१.

२५. वीतरागोऽपि मूकादिरूपदेष्टुमशक्तः किं कुर्यात्? वक्तुं शक्तोऽपि साक्षात्कृतधर्माप्यवीतरागो न वक्ति तूष्णीमास्ते इति। - वही, भाग १, पृ० १५१.

२६. तस्य च प्रतिपाद्येऽर्थे वीतरागत्वभिमष्यते।
सर्वथा वीतरागस्तु पुरुषः कुत्र लभ्यते।। - वही, पृ० १५१.

२७. आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयाहद्विदुः। क्षीणदोषोऽनृतं वाक्ये न ब्रूयाद्धेत्वसंभवात्।। - माठरवृत्ति, ५.

*

श्रमण, वर्ष ५८, अंक २-३
अप्रैल-सितम्बर २००७

कालिदास के नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत के तद्धित प्रत्यय

कौशल्या चौहान*

कालिदास ने अपने नाटकों में प्राकृत के दो प्रकार के तद्धित प्रत्ययों का प्रयोग किया है। प्रथम प्रकार के तद्धित प्रत्यय वे हैं जिनका उल्लेख संस्कृत के प्रसिद्ध व्याकरण अष्टाध्यायी में हुआ है। इन प्रत्ययों में से कालिदास के नाटकों में प्राकृत के अण्, आकिनच्, इतच्, इनि, इष्ठन्, ख, खञ्, घ, छ, ठक्, ठञ्, ठन्, डतमच्, डतरच्, डामहच्, ढक्, ढञ्, तमप्, तरप्, तल्, तीय, थमु, थाल् दा, मतुप्, मयट्, यत्, ष्यञ्, र, ल, तथा विनि इत्यादि प्रत्ययों का प्रयोग हुआ है। कालिदास ने संस्कृत के इन तद्धित प्रत्ययों का प्रयोग प्राकृत के नियमानुसार वर्ण-लोप तथा वर्ण-परिवर्तन करके किया है। दूसरे प्रकार के तद्धित प्रत्यय वे हैं जिनका उल्लेख आचार्य हेमचन्द्र विरचित प्राकृत-व्याकरण में हुआ है। कालिदास ने अपने नाटकों में प्राकृत के क, एत्तिअ, केर, त्तण, त्थ, दो तथा हिं तद्धित प्रत्ययों का प्रयोग किया है। इनका उल्लेख निम्नलिखित प्रकार से है-

१. क (अ) प्रत्यय प्राकृत में स्वार्थ में इल्ल, उल्ल, क[१], डमया[२], डयम्[३], डालिअ[४], डिअम्[५], मया[६], रो[७], ल[८] तथा ल्लो[९] - इन तद्धित प्रत्ययों का प्रयोग होता है। कालिदास ने अपने नाटकों की प्राकृत में स्वार्थ में केवल क तद्धित प्रत्यय का ही प्रयोग किया है। क का लोप[१०] हो जाने पर उसकी अ मात्रा शेष रह जाती है। कालिदास के नाटकों में निम्नलिखित स्थलों पर प्राकृत के प्रत्यय का प्रयोग द्रष्टव्य है-

अङ्गुलीअअं सहि, देवीए इदं सिप्पिसआसादो आणीदं णागमुद्दासणाहं अङ्गुलीअअं।[११]

अहं वि एदं अङ्गुलीअअं[१२] देवीए उवणइस्सम्।

इदं सप्पमुद्दिअं अङ्गुलीअअं[१३]।

ता इदो अहिण्णाणं अङ्गुलीअअं[१४] से विसज्जेम।

अङ्गारओ जाव अङ्गारओ[१५] रासि विअ अणुवङ्कं परिगमणं ण करेदि।

* रीडर, संस्कृत-विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला-१७१००५

कण्णआ — गुणवदे कण्णआ[१६] पडिवादणिज्जे त्ति अअं दाव पढमो संकप्पो।

पुत्तओ — अदिघोरे क्खु पुत्तओ[१७] सेनावदिणा णिउत्तो।

सच्चवदीसहिदो पुत्तओ[१८] मे आऊ महन्तो क्खु संवुत्तो।

एसो पुत्तओ[१९] अज्जाए सच्चवदीए हत्थे आप्पणा णिक्खितो।

गरुअं — जाणे अप्पडिआरगरुअं[२०] वेअणं केत्तिअं कालं मअणो मं णइस्सदित्ति।

गरुअं[२१] पि विरहुदुक्खं आसाबंधो सहावेदि।

पुत्तअं — एसा खु केसरिणी तुमं लंघेदि जइ से पुत्तअं[२२] ण मुंचेसि।

मुहुत्तअं — ता परिदेवइस्सं ताव वीसद्धं मुहुत्तअं[२३]।

एत्थ एव्व दाव मुहुत्तअं[२४] चिट्ठ।

मुहुत्तअं[२५] उवविसिअ परिस्समविणोदं करेदु अज्जो।

हत्थअं — इमं देवप्पसादस्सावदेसेण सुमणोगोविदं करिअ से हत्थअं[२६] पावइस्सं।

अंगुलीअअस्स — उववण्णो खु अंगुलीअअस्स[२७] आअमो।

पुत्तअस्स — मं वि किदविणअस्स पुत्तअस्स[२८] लम्भजाणन्तरं सग्गारोहणेण अवसिद-कज्जां विप्पओअमुह महाराओ समत्थइस्सदि।

दिट्ठिआ पिअसही पुत्तअस्स[२९] जुवराअसिरीं पेक्खिअ भत्तुणो अविरहेण वड्ढदि।

२. एत्तिअ (डेत्तिअ) प्रत्यय - प्राकृत में इदम्, किम्, यद्, तद् और एतद् से परे अतु प्रत्यय को परिमाणार्थ में विकल्प से डित होने वाले एत्तिअ, एत्तिल, और एद्दह आदेश होते हैं तथा एतद् का लोप भी हो जाता है।[३०] कालिदास ने अपने नाटकों में प्राकृत के ऊपरलिखित परिमाणार्थक प्रत्ययों में से केवल एत्तिअ प्रत्यय का ही प्रयोग निम्नलिखित स्थलों पर किया है -

एत्तिओ — एत्तिओ[३१] में मदिविहवो भवन्तं सेविदुं।

एत्तिओ[३२] मे मदिविहवो।

एत्तिओ[३३] बहजणस्स उवदेसो।

केत्तिअ — जाणे अप्पडिआरगरुअं वेअणं केत्तिअं[३४] कालं मअणो मं णइस्सदित्ति।

एत्तिअं — एदस्स वदस्स अअं पहाओ जं एत्तिअं[३५] वददि अज्जउत्तो।

यह वि एत्तिअं[३६] चिंतणिज्जं।

एत्तिएण — एत्तिएण[३७] चिंतेहि दाव पिओ ण वेत्ति।

एत्तिएहिं — अलं एत्तिएहिं[३८] कुसुमेहिं।

एत्तिअस्स — अण्णहा कहं सो राएसी तारिसाणि मंतिअ एत्तिअस्स[३९] कालस्स लेहमेत्तं पि ण विसज्जेदि?

३. केर प्रत्यय - प्राकृत में (उसका अथवा अमुक का - इस अर्थ में) इदमर्थक प्रत्यय के स्थान पर केर आदेश होता है।[४०] कालिदास ने अपने नाटकों में कुछ ही स्थलों पर प्राकृत के इस प्रत्यय का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ-

परकेरअं — परकेरअंति[४१] करिअ।

ममकेरए — ममकेरए[४२] उडए मक्कंडेअस्स इसिकुमारअस्स वण्णचित्तिदो मित्तिआमोरओ चिट्ठदि।

४. त्तण प्रत्यय - प्राकृत में त्व प्रत्यय के स्थान पर विकल्प से डिमा (इमा) तथा त्तण आदेश होते हैं।[४३] इन दोनों आदेश युक्त प्रत्ययों में से कालिदास ने अपने नाटकों में प्राकृत के केवल त्तण प्रत्यय का ही प्रयोग किया है। निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं-

अहिरामत्तणं — पेक्खदु भवं वसन्तावदारसूइदं से अहिरामत्तणं[४४] पमदवणस्स।

असंताणत्तणं — असंताणत्तणं[४५] वज्जिय से ण किं वि सोअणीअम्।

पहाणत्तणं — जइ वि एवं तह वि राअपरिग्गहो पहाणत्तणं[४६] उवहरदि।

पहुत्तणं — किंतु केवलं देवीए धारिणीए चित्तं रक्खन्तो अत्तणो पहुत्तणं[४७] ण दसेदि।

वल्लहत्तणं — मन्दो वो उवआरो जं परिजणे सजन्तं वल्लहत्तणं[४८] ण जाणीअदि।

रम्मत्तणं — इमस्स मित्तिआमोरअस्स रम्मत्तणं[४९] देक्ख त्ति भणिदो सि।

५. त्थ प्रत्यय - प्राकृत में त्रप् प्रत्यय के स्थान पर हि, ह तथा त्थ आदेश होते हैं।[५०] इन प्रत्ययों में से कालिदास ने अपने नाटकों में प्राकृत के केवल त्थ प्रत्यय का ही प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ-

एत्थ कहं, एत्थ[५१] तक्केसि।

एत्थ[५२] क्खु भत्तुणो सीसम्हि।

भट्टा एत्थ[५३] पविसदि।

जुज्जइ देवी एत्थ[५४] माणइदव्वा।

एत्थ[५५] तुमं एव्वं पमाणं।

सच्चं अअं एत्थ[५६] बह्मबन्धुणा किदो पओओ।

दुवे वि णो एत्थ[५७] प्पिआ उवणदा।

एत्थ[५८] पिअआरिणं संभावेम्ह राएसिं।

जं एत्थ[५९] अहिलिहिदं तं सुणिदुं इस्सामि

एत्थणो[६०] समभाआमदी।

एत्थ[६१] वा भवे।

किं एत्थ[६२] करणिज्जं।

ता भविदव्वदा एत्थ[६३] बलवदी।

अलं एत्थ[६४] घिणाए।

एत्थ[६५] पओहरवित्थारइत्तअं अत्तणो जोव्वणं उवालह।

एत्थ[६६] एव्व दाव मुहुत्तअं चिट्ठ।

एत्थ[६७] उवविसम्ह।

एत्थ[६८] अज्ज तादो संणिहिदो भवे।

तत्थ ण तत्थ[६९] खहिअदि ण पीअदि।

६. दो प्रत्यय - प्राकृत में तस् प्रत्यय के स्थान पर विकल्प से त्तो तथा दो आदेश होते हैं।[७०] इन दोनों आदेश युक्त प्रत्ययों में से कालिदास ने अपने नाटकों में प्राकृत के केवल दो प्रत्यय का ही प्रयोग किया है। कुछ प्रयोग द्रष्टव्य है-

अदो अदो[७१] अवरं ण जाने।

तुम वि अदो[७२] पेसलदरं साहुजणसुस्सूसाए फलं पावेहि।

अदो[७३] दाव तुए दिव्वरसाहिलासिणा जादअव्वदं गहिदम्।

अदो[७४] वरं णत्थि मे वअणम्।

णत्थि मे वाआविहओ अदो[७५] पिअदरं मंतिदुम्।

अदो[७६] क्खु पिअंवदा सि तुमं।

अदो[७७] सहीहिं संदिट्ठम्हि भत्तुणो अंगुलीअअं दंसइदव्वं त्ति।

इदो

इदो[७८] दिट्ठी ण देसि।

इदो इदो[७९] भवं।

इदो इदो[८०] देवो।

सव्वकालं इदो[८१] एव्व सोत्थिवाअणमोदएहिं कुक्खिं पूरिअ संपदं मालविअं सिविणावेदि।

भट्टा इदो[८२] एव्व धावदि।

इदो इदो[८३] भवं।

इदो[८४] एहि।

णं इदो[८५] भवे।

इदो[८६] गमिस्सम्।

इदो इदो[८७] एदु भवम्।

इदो इदो[८८] भट्टिणी।

इदो[८९] दाव।

इदो इदो[९०] भोदी।

इदो इदो[९१] दक्खिणन्तरेण चलिदो सउणिहदासो।

कुदो

कुदो[९२] दे दाणिं इअं धीरदा।

अण्णोण्णकलहप्पिआणं मत्तहत्थीणं एक्कदरस्सिं अणिज्जिदे

कुदो[९३] उवसमो।

कुदो[९४] विहवो सिणिद्धस्स सहीजणस्स इमं वुत्तन्तं आचक्खिदुं।

कुदो[९५] दाणिं ओगमिदव्वं दोलाघरं पढमं गदो भट्टा ण वेत्ति।

कुदो[९६] दे अणुसओ।

कुदो[९७] एदं।

जदो

जदो[९८] पहुदि भअवदो सुज्जस्स उअत्थाणं कदुअ पडिणिउत्तो महाराओ।

जदो[९९] पहुदि मम दंसणपहं आअदो सो तवोवण रक्खिदा रायसी।

जदो[१००] एक्कं एव्व णो जीविदं दुधा ट्ठिदं सरीरं।

तदो

तदो तदो[१०१]।

तदो[१०२] सोहणं भवे।

तदो[१०३] अहं अहिलासपूरइत्तअं पसादं दावइस्सं त्ति।

तदो[१०४] जुज्जदि त्ति ताए एव्वं संपादिदो अत्थो।

तदो[१०५] किं दाणिं अत्ताण आआसइस्सं।

तदो[१०६] क्खु इअं भट्टदारिआए समवत्था संवुत्ता।

तदो[१०७] णिअत्तिस्सदि त्ति।

तदो तदो[१०८]।

तदो[१०९] अहं गुरुसावसंमूढहिअआ विसुमादिदेवदाणिअमा।

तदो[११०] उवलद्धवुत्तन्तेण भअवदा चवणेण अहं समादिट्ठा।

तदो[१११] किं भवे ?

तदो[११२] आरहिअ तग्गदेण अहिलासेण एतदवत्थम्हि संवुत्ता।

तदो[११३] से इमं अत्तणामहेअअकिअं अंगुलीअअं दंसेहि।

अग्गदो

असमत्थम्हि अग्गदो[११४] भविअ अत्ताणअं दंसिदुम्।

अहं एव्व अवरादधा जा पडिऊलदंसणा भविअ अग्गदो[११५] चिट्ठामि।

अग्गदो[११६] वि मए ट्ठिदाए उदासीणो महाराओ।

णं भवं अग्गदो[११७] मे वट्टदि।

जाणे सही अग्गदो[११८] मे वट्टदि त्ति।

पुरदो एसो उआरूढराओ उअभोअक्खमो पुरदो[११९] दे वट्टई।

दुक्खेण मे चलणा पुरदो[१२०] पवट्टंति।

भवदो अलं भवदो[१२१] धीरं उज्झिअ परिदेविदेणं

भवदो[१२२] परिदेविअं सुणिअ भुज्जवत्ते अणुराअसूअआ अक्खरा अहिलिहिअ विसज्जिआइं भवे।

णत्थि भवदो[१२३] अवराहो।

७. हिं प्रत्यय - प्राकृत में इदम् और एतद् को छोड़कर अन्य सर्वादि अदन्त सर्वनामों से परे आने वाले ङि (प्रत्यय) को विकल्प से हिं आदेश होता[१२४] है। कालिदास ने अपने नाटकों में प्राकृत के हिं प्रत्यय से युक्त रूपों का अनेक स्थलों पर प्रयोग किया है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं-

कहिं कहिं[१२५] दाणिं वो सिस्सा।

कहिं[१२६] क्खु पत्थिदम्हि।

कहिं[१२७] वि अदिट्ठेण भत्तुणा होदव्वं।

कहिं[१२८] णु क्खु देवी हवे।

अह कहिं[१२९] देवी।

सहीअणो कहिं[१३०] क्खु भवे ?

संगीदवावारं उज्झिअ कहिं[१३१] पत्थिदासि ?

तुमं कहिं[१३२] पत्थिदो ?

कहिं[१३३] क्खु अणिदिट्ठकालणं गच्छीअदि ?

कहिं[१३४] क्खु सो आवण्णाणुकम्पी भवे ?

कहिं[१३५] सो मम हिअअचोरो।

कहिं[१३६] गदो सो रअणु कुंभीलओ।

साअरं उज्झिअ कहिं[१३७] वा महाणई ओदरइ ?

कहेहि कहिं[१३८] तुए एशे मणिबंधणुक्किण्णणामहेए लाअकीए अंगुलीअए शमाशादिए ?

तहिं तहिं[१३९] पञ्चविहस्स . . . . . .उक्कंणं विणोदेदुम्।

तहिं[१४०] पढमं पेसिदो।

तहिं[१४१] मंदाइणीतीरे . . . . . मे पिअसही उव्वसी।

तहिं[१४२] दीहाउणा अवस्सं संभाविदव्वा -त्ति।

ऊपरलिखित उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि हेमचन्द्राचार्य ने अपने प्राकृत-व्याकरण में केर, क्क, डिक्क, एच्चय, व्व, इक, णय, डिम, त्तण, डेल्ल, इत्तिअ, डेत्तिअ, डेत्तिल, डेदृह, हुतं, आलु, इल्ल, उल्ल, आल, वन्त, मन्त, इत्त, इर, त्तो, दो, हि, ह, त्थ, सि, सिअं, इआ, क, ल्लो, मया, डमया, डिअम् तथा डालिअ इत्यादि अनेक तद्धित प्रत्ययों का उल्लेख किया है[१४३] परन्तु कालिदास ने अपने नाटकों में प्राकृत के इनमें से केवल क, एत्तिअ, केर, त्तण, त्थ, दो तथा हिं -इन सात ही तद्धित प्रत्ययों का प्रयोग किया है।

सन्दर्भ :

१. स्वार्थे कश्च। **प्राकृत-व्याकरणम्**, आचार्य हेमचन्द्र, भण्डारकर ऑरियन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना, संस्करण, १९८०, २/१६४.

२. भ्रुवो मया डमया। वही, २/१६७.

३. मनाको न वा डयं च। वही, २/१६९.

४. मिश्राड्डालिअः। वही २/१७०.

५. शनैसो डिअम्। वही, २/१६८.

६. भ्रुवो मया डमया। वही, २/१६७.

७. रो दीर्घात्। वही, २/१७१.

८. विद्युत्पत्र-पीतान्धाल्लः। वही, २/१७३.

९. ल्लो नवैकाद्वा। उपरेः संव्याने। वही, २/१६५-१६६.

१०. क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक्। वही, १/१७७.

११. पाण्डेय, डॉ० रमाशङ्कर, **मालविकाग्निमित्रम्**, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९७९, प्रथमोऽङ्कः, पृ० ७.

१२. वही, पृ० ११.

१३. वही, चतुर्थोऽङ्कः, पृ० ११७.

१४. मिश्र, यदुनन्दन (व्याख्याकार), **अभिज्ञानशाकुन्तलम्**, चौखम्भा पब्लिशर्स, वाराणसी, संस्करण, १९९९, चतुर्थोऽङ्कः, पृ० २०८.

१५. **मालविकाग्निमित्रम्**, तृतीयोऽङ्कः, पृ० १०४.

१६. **अभिज्ञानशाकुन्तलम्**, चतुर्थोऽङ्कः, पृ० १९४.

१७. **मालविकाग्निमित्रम्**, पञ्चमोऽङ्कः, पृ० १७४.

१८. **विक्रमोर्वशीयम्**, पञ्चमोऽङ्कः, पृ० २११.

१९. वही, पृ० २१६.

२०. **मालविकाग्निमित्रम्**, तृतीयोऽङ्कः, पृ० ७१.

२१. **अभिज्ञानशाकुन्तलम्**, चतुर्थोऽङ्कः, श्लोकसंख्या, १५, पृ० २४३.

२२. वही, सप्तमोऽङ्कः, पृ० ४३८.

२३. **मालविकाग्निमित्रम्**, तृतीयोऽङ्कः, पृ० ७२.

२४. **अभिज्ञानशाकुन्तलम्**, प्रथमोऽङ्कः पृ० ३६.

२५. वही, पृ० ४९.

२६. वही, तृतीयोऽङ्कः, पृ० १६०.

२७. वही, षष्ठोऽङ्कः, पृ० ३३१.

२८. त्रिपाठी, रामाभिलाष (व्याख्याकार), **विक्रमोर्वशीयम्**, मोती लाल बनारसी दास वाराणसी, प्रथम संस्करण, पञ्चमोऽङ्कः, पृ० २१८.

२९. वही, पञ्चमोऽङ्कः, पृ० २२६.

३०. इदंकिमश्च डेत्तिअ-डेत्तिल-डोहाः। **प्राकृत व्याकरणम्**, २.१५७.

३१. **मालविकाग्निमित्रम्** द्वितीयोऽङ्कः, पृ० ५४.

३२. **विक्रमोर्वशीयम्**, द्वितीयोऽङ्कः, पृ० ७२.

३३. **अभिज्ञानशाकुन्तलम्**, चतुर्थोऽङ्कः, पृ० २४८.

३४. **मालविकाग्निमित्रम्**, तृतीयोऽङ्कः, पृ० ७१.

३५. **विक्रमोर्वशीयम्**, तृतीयोऽङ्कः, पृ० ११९.

३६. **अभिज्ञानशाकुन्तलम्**, चतुर्थोऽङ्क, पृ० १९२.

३७. **विक्रमोर्वशीयम्**, तृतीयोऽङ्कः, पृ० १२१.

३८. **अभिज्ञानशाकुन्तलम्**, चतुर्थोऽङ्कः, पृ० १९६.

३९. वही, पृ० २०८.

४०. इदमर्थस्य केरः। **प्राकृत-व्याकरणम्**, २/१४७.

४१. **मालविकाग्निमित्रम्**, द्वितीयोऽङ्कः, पृ० ५४.

४२. **अभिज्ञानशाकुन्तलम्**, सप्तमोऽङ्कः, पृ० ४४१.

४३. त्वस्य डिमा-त्तणौ वा। **प्राकृत-व्याकरणम्**, २/१५४.

४४. **विक्रमोर्वशीयम्**, द्वितीयोऽङ्कः, पृ० ५९.

४५. वही, पञ्चमोऽङ्कः, पृ० १९७.

४६. **मालविकाग्निमित्रम्**, प्रथमोऽङ्कः, पृ० २७.

४७. वही, तृतीयोऽङ्कः, पृ० ६२.

४८. वही, चतुर्थोऽङ्कः, पृ० १०८.

४९. **अभिज्ञानशाकुन्तलम्**, सप्तमोऽङ्कः, पृ० ४५१.

५०. त्रापो हि-ह-त्था। प्राकृत -व्याकरणम्, २/१६१.

५१. **मालविकाग्निमित्रम्**, तृतीयोऽङ्कः, पृ० ८५.

५२. वही, पृ० ८६.

५३. वही, पृ० ९५.

५४. वही, पृ० ९७.

५५. वही, पृ० १००.

५६. वही, चतुर्थोऽङ्कः, पृ० १४३.

५७. **विक्रमोर्वशीयम्**, प्रथमोऽङ्कः, पृ० २७.

५८. वही, पृ० ३०.

५९. वही, द्वितीयोऽङ्कः, पृ० ७४.

६०. वही, पृ० ७८.

६१. वही, पृ० ८७.

६२. वही, तृतीयोऽङ्कः, पृ० ११५.

६३. वही, चतुर्थोऽङ्कः, पृ० १३६.

६४. वही, पञ्चमोऽङ्कः, पृ० २००.

६५. **अभिज्ञानशाकुन्तलम्**, प्रथमोऽङ्कः, पृ० ३३.

६६. वही, पृ० ३६.

६७. वही, पृ० ४९.

६८. वही, पृ० ५४.

६९. **विक्रमोर्वशीयम्**, तृतीयोऽङ्कः, पृ० १२८.

७०. तो दो तसो वा। प्राकृत-व्याकरणम्, २/१६०.

७१. **मालविकाग्निमित्रम्**, तृतीयोऽङ्कः, पृ० ६२.

७२. वही।

७३. **विक्रमोर्वशीयम्**, द्वितीयोऽङ्कः, पृ० ५४.

७४. वही, पृ० ६६.

७५. वही, तृतीयोऽङ्कः, पृ० १३०.

७६. **अभिज्ञानशाकुन्तम्**, प्रथमोऽङ्कः, पृ० ३६.

७७. वही, सप्तमोऽङ्कः, पृ० ४७८.

७८. **मालविकाग्निमित्रम्**, प्रथमोऽङ्कः, पृ० ७.

७९. वही, तृतीयोऽङ्कः, पृ० ६८.

८०. वही, चतुर्थोऽङ्कः, पृ० १११.

८१. वही, पृ० १३८.

८२. वही, पृ० १३९.

८३. **विक्रमोर्वशीयम्**, द्वितीयोऽङ्कः, पृ० ५५.

८४. वही, पृ० ८२.

८५. वही, पृ० ८७.

८६. वही, पृ० ९२.

८७. वही, तृतीयोऽङ्कः, पृ० १०५.

८८. वही, पृ० ११५.

८९. वही, पृ० १२०.

९०. वही, पृ० १३१.

९१. वही, पञ्चमोऽङ्कः, पृ० २००.

९२. **मालविकाग्निमित्रम्**, प्रथमोऽङ्कः, पृ० ७.

९३. वही, पृ० ३०.

९४. वही , तृतीयोऽङ्कः, पृ० ७१.

९५. वही, पृ० ८३.

९६. वही, पृ० ८७.

९७. **अभिज्ञानशाकुन्तलम्**, चतुर्थोऽङ्कः, पृ० २१९.

९८. विक्रमोर्वर्शीयम्, द्वितीयोऽङ्कः, पृ० ४३.

९९. **अभिज्ञानशाकुन्तलम्**, तृतीयोऽङ्कः, पृ० १५४.

१००. वही, षष्ठोऽङ्कः, पृ० ३३९.

१०१. **मालविकाग्निमित्रम्**, प्रथमोऽङ्कः, पृ० ,९-१०; तृतीयोऽङ्कः, पृ० ११२.

१०२. वही, प्रथमोऽङ्कः, पृ० ३९.

१०३. वही, तृतीयोऽङ्कः, पृ० ७२.

१०४. वही, चतुर्थोऽङ्कः, पृ० १२१.

१०५. वही, पृ० १२७.

१०६. वही, पञ्चमोऽङ्कः, पृ० १६८.

१०७. **विक्रमोर्वशीयम्**, द्वितीयोऽङ्कः, पृ० ४७.

१०८. वही, चतुर्थोऽङ्कः, पृ०, १३५, १३६.

१०९. वही, पृ० १९३.

११०. वही, पञ्चमोऽङ्कः, पृ० २०९.

१११. **अभिज्ञानशाकुन्तलम्**, प्रथमोऽङ्कः, पृ० ५५.

११२. वही, तृतीयोऽङ्कः, पृ० १५४.

११३. वही, चतुर्थोऽङ्कः, पृ० २५१.

११४. **विक्रमोर्वशीयम्**, द्वितीयोऽङ्कः, पृ० ७३.

११५. वही, पृ० ९२.

११६. वही , तृतीयोऽङ्कः, पृ० ११५.

११७. **अभिज्ञानशाकुन्तलम्**, द्वितीयोऽङ्कः, पृ० १०९.

११८. वही, षष्ठोऽङ्कः, पृ० ३७१.

११९. **मालविकाग्निमित्रम्**, तृतीयोऽङ्कः, पृ० ९२.

१२०. **अभिज्ञानशाकुन्तलम्**, चतुर्थोऽङ्कः, पृ० २३३.

१२१. **मालविकाग्निमित्रम्**, तृतीयोऽङ्कः, पृ० ६४.

१२२. **विक्रमोर्वशीयम्**, द्वितीयोऽङ्कः, पृ० ७३.

१२३. वही, पृ० ९२.

१२४. न वानिदमेतदो हिं। प्राकृत-व्याकरणम्, ३/६०.

१२५. **मालविकाग्निमित्रम्**, प्रथमोऽङ्कः, पृ० १५.

१२६. वही, तृतीयोऽङ्कः, पृ० ७२.

१२७. वही, पृ० ८४.

१२८. वही, पञ्चमोऽङ्कः, पृ० १४७.

१२९. वही, पृ० १४८.

१३०. **विक्रमोर्वशीयम्**, प्रथमोऽङ्कः, पृ० २४.

१३१. वही, द्वितीयोऽङ्कः, पृ० ४५.

१३२. वही, पृ० ५४.

१३३. वही, पृ० ६४.

१३४. वही, पृ० ६७.

१३५. वही, तृतीयोऽङ्कः, पृ० १११.

१३६. वही, पञ्चमोऽङ्कः, पृ० २०२.

१३७. **अभिज्ञानशाकुन्तलम्**, तृतीयोऽङ्कः, पृ० १५७.

१३८. वही, षष्ठोऽङ्कः, पृ० ३२४.

१३९. **विक्रमोर्वशीयम्**, द्वितीयोऽङ्कः, पृ० ५२.

१४०. वही, पृ० ६४.

१४१. वही, चतुर्थोऽङ्कः, पृ० १३५.

१४२. **अभिज्ञानशाकुन्तलम्**, द्वितीयोऽङ्कः, पृ० १३१.

१४३. **प्राकृत-व्याकरणम्**, २/१४७-२/१७०

*

श्रमण, वर्ष ५८, अंक २-३
अप्रैल-सितम्बर २००७

तंत्र दर्शन में ज्ञान का स्वरूप

डॉ० जयशंकर सिंह

ज्ञान के सन्दर्भ में तंत्र दर्शन का प्रमुख अवदान यह है कि ज्ञान को वह अप्रयत्नशील तथा स्वाभाविक रूप से क्रियाशील मानता है। अद्वैत वेदान्त दर्शन इस मत के ठीक विपरीत है। वह ज्ञान को निष्क्रिय मानता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार ऐसी क्रियायें हो सकती हैं, जो ज्ञान की तरफ हमें उन्मुख करें लेकिन ज्ञानावस्था में हमलोग निष्क्रिय रहते हैं। वस्तु का ज्ञान उसके स्वरूप से ही होता है। हमारा उसमें कोई अवदान नही होता है। उदाहरण के लिए हम फल को ले सकते हैं। फल का स्वाद हम बनाते नहीं है वरन् उसके स्वरूपानुसार ग्रहण करते हैं। उसके स्वाद का अनुभव करते समय हम बिल्कुल निष्क्रिय होते हैं। ज्ञान वस्तु पर निर्भर रहता है, लेकिन क्रिया नहीं। क्रिया के क्षेत्र में हमलोग बिल्कुल चयन के लिए स्वतंत्र रहते हैं। क्रिया पुरुष-तंत्र होती है जबकि ज्ञान वस्तु-तंत्र होता है। तांत्रिक दार्शनिक कहते हैं कि ज्ञाता ज्ञान के क्षणों में कोई प्रयास नहीं करता (जैसा कि फल के मिठास के सम्बन्ध में) किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ज्ञान होते समय हम निष्क्रिय रहते हैं। उस अवस्था में भी हम क्रियाशील रहते हैं, लेकिन यह क्रिया अनायास-क्रिया अथवा स्पन्द-क्रिया (Spontaneous Activity) होती है। स्पन्द वस्तुत: स्वतंत्र एवं स्वत: स्फूर्त क्रिया (Free and Spontaneous Activity) है। अच्छे कवि या कलाकार की स्वाभाविक कला-प्रकाशन भी स्पन्द-क्रिया का ही उदाहरण है। शिव में जो शक्ति (क्रिया) है वह भी स्पन्दरूपा है, स्पन्द की एक खूबी है। वह कमी या अपूर्णता का द्योतक नहीं है। कर्म अपूर्णता का द्योतक है, स्पन्द नहीं है।

तंत्र दर्शन (काश्मीर शैव दर्शन) आत्मा और ज्ञान दोनों को अभिन्न मानता है। अद्वैत वेदान्त दर्शन के अनुसार भी ज्ञान आत्मा का स्वरूप ही है। जिस प्रकार प्रकाश और प्रकाशक अलग-अलग वस्तु नहीं है, उसी प्रकार ज्ञान और आत्मा अलग-अलग वस्तु नहीं है। ज्ञान आत्मा अथवा चेतना का गुण नहीं, अपितु स्वरूप है। अर्थात् चेतनता या ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक धर्म है।[१]

तंत्र दर्शन के अनुसार ज्ञान निष्क्रिय प्रतीत होता है लेकिन निष्क्रिय नहीं है। यह ऐसी अवस्था होती है जहाँ पर ज्ञाता इच्छापूर्वक क्रिया नहीं करता है, बल्कि जहाँ

* *दर्शन एवं धर्म विभाग, का०हि०वि०वि०, वाराणसी*

ज्ञान का अर्थ वस्तु का ग्रहण करना है वहाँ पर ज्ञाता की क्रिया अवश्य होती है। लेकिन यह क्रिया प्रयत्नहीन तथा स्वाभाविक होती है। ज्ञान को निष्क्रिय मानने वाले लोग दृष्टान्त देते हैं कि जिस प्रकार चन्द्रमा का स्वरूप तालाब में प्रतिबिम्बित होता है और प्रतिबिम्ब के समय वस्तु का स्वरूप मन या चेतना में प्रतिबिम्बित होता है तथा प्रतिबिम्बन के समय जैसे तालाब निष्क्रिय रहता है वह खुद प्रतिबिम्ब को पकड़ कर नहीं लाता है। ठीक उसी प्रकार वस्तु के ज्ञान की अवस्था में चेतना निष्क्रिय रहती है। किन्तु तंत्र दर्शन के पक्ष से यह बात कही जायेगी कि उक्त दृष्टान्त ज्ञान पर पूरी तरह से लागू नही होता है। तालाब प्रतिबिम्ब का ज्ञान नही करता है। किन्तु चेतनारूपी तालाब तो प्रतिबिम्ब का ज्ञान करता है और ज्ञान की प्रक्रिया भौतिक प्रतिबिम्बन मात्र नहीं है। चेतना प्रतिबिम्ब को पकड़ेगी या समझेगी नहीं तो वह ज्ञान बनेगा ही नहीं। यह अलग बात है कि यह पकड़ना ऐच्छिक कर्म न होकर चेतना की स्वाभाविक क्रिया है। तंत्र दर्शन के पक्ष से एक दूसरा दृष्टान्त दिया जा सकता है जो अधिक उपयुक्त है। वह यह कि जब भोजन पेट में जाता है तो पाचन की क्रिया अपने आप चालू हो जाती है। पचने का अर्थ है कि शरीर उस पर क्रिया कर रहा है, किन्तु हमारी यह क्रिया ऐच्छिक नही है अपितु अपने आप होती है, इसलिए पाचन की अवस्था में ऐसा लगता है कि हम स्वयं कुछ नहीं कर रहे हैं। उसी प्रकार जब वस्तु चेतना के सामने आती है तो उसको पकड़ने या पचाने की क्रिया चेतना में अपने आप होने लगती है।

ज्ञान की प्रक्रिया में ज्ञान होने के बोध की व्याख्या ज्ञान को निष्क्रियता की अवस्था मानकर नहीं की जा सकती। ज्ञान को निष्क्रियता की अवस्था मानने पर ज्ञान की क्रिया यान्त्रिक, भौतिक क्रिया हो जाती है जो दर्पण में पड़ रहे प्रतिबिम्ब के समान कही जायेगी, जिसमें दर्पण को वस्तु के प्रतिबिम्ब का बोध नही रहता। ऐसी स्थिति में ज्ञान की प्रक्रिया को चेतन क्रिया नहीं कहा जा सकता, जिसमें वस्तु का बोध रहता है।

एक प्रश्न उठता है कि ज्ञान वस्तु को प्रकाशित करता है, किन्तु स्वयं ज्ञान किस प्रकार ज्ञात होता है? इसके उत्तर में तंत्र दर्शन यह कहता है कि ज्ञान विषय के रूप में ज्ञात नही हो सकता, क्योंकि ज्ञान सदैव ज्ञाता को होता है न कि ज्ञात को, अर्थात् ज्ञान ज्ञाता का भाग होता है। ज्ञान को जानना ज्ञाता को जानना है। ज्ञाता को ज्ञान का विषय नही बनाया जा सकता है, क्योंकि ज्ञाता सदैव ज्ञेय से पूर्व रहता है। ज्ञाता विषय को ज्ञान का विषय कहना वदतोव्याघात है। ज्ञान का विषय ज्ञान नहीं अपितु विषय को जानना ज्ञान है।

तांत्रिक दार्शनिक का कथन है कि ज्ञान कुर्सी या मेज के समान ज्ञेय नहीं है, अपितु ज्ञान स्वयं प्रकाश है। विषय को प्रकाशित करने में ज्ञान भी स्वयं प्रकाशित

होता है अर्थात् ज्ञान स्वयं प्रकाश है। प्रकाश वस्तु को प्रकाशित करता है तथा उसी समय स्वयं को भी उसी प्रक्रिया में प्रकाशित करता है। वस्तु के प्रकाशित होने में वस्तु प्रकाश का विषय है, क्योंकि प्रकाश वस्तु पर पड़ता है लेकिन स्वयं प्रकाश अपना विषय नही है। 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शनी' में आत्मा को स्वयं प्रकाश कहा गया है उसी के प्रकाश के सारा बाह्य जगत् प्रकाशित है। आत्मा स्वयं अपने को विषय नहीं बनाता है। यह बिना अपने को विषय बनायें स्वयं प्रकाश रूप में ज्ञात होता है। सुषुप्तावस्था में भी आत्मा को ज्ञान रहता है अन्यथा स्मृति आदि कैसे सम्भव होती? आत्मा का प्रकाश नित्य है। इसमें किसी प्रकार का व्यवधान नहीं है।[२] तंत्र दर्शन में ज्ञान आत्मा का स्वरूप माना गया है बाह्य या आन्तरिक वस्तुएँ या जो भी दिखाई पड़ रहे हैं सभी आत्मा से ही प्रकाशित हैं और आत्मा स्वयं प्रकाश चैतन्य स्वरूप है।[३]

जैन दार्शनिकों के अनुसार भी जीव चैतन्यमय है, ज्ञान उसका साक्षात् लक्षण है। चेतना कोई आकस्मिक गुण नहीं है वरन् जिस प्रकार सूर्य में प्रकाश, चन्द्रमा में चाँदनी स्वाभाविक धर्म हैं उसी प्रकार जीव में चेतना उसका धर्म है। यहाँ पर जैन दर्शन चार्वाक दर्शन से बहुत दूर हो जाता है, क्योंकि चार्वाक दर्शन के अनुसार चेतना आत्मा का एक आकस्मिक गुण है। जैन दार्शनिकों का मानना है कि जिस प्रकार सूरज अपने प्रकाश से दूसरी वस्तुओं को प्रकाशित करने के साथ ही वह अपने को भी प्रकाशित करता है, उसी प्रकार जीव/चेतना ज्ञान के माध्यम से दूसरों को तो प्रकाशित करता ही है, साथ-साथ अपने को भी प्रकाशवान करता है। यहाँ एक शंका हो सकती है कि यदि आत्मा और ज्ञान अभिन्न है तो उन दोनों में कर्तृ-करणभाव कैसे बन सकता है? इसका उत्तर देते हुए 'स्याद्वादमंजरी' में कहा गया है कि जिस प्रकार सर्प अपने शरीर से अपने को लपेटता है उसी प्रकार आत्मा अपने से ही अपने को जानती है।[४] वही आत्मा जानने वाला है- कर्ता है और उसी आत्मा से जानता है- करण है। कर्ता और करण का यह सम्बन्ध पर्यायभेद से है। आत्मा की ही पर्यायें करण होती हैं। उन पर्यायों को छोड़कर दूसरा कोई करण नहीं होता है। अत: आत्मा चैतन्य स्वरूप है।

चेतना पूर्ण है, अनन्त चतुष्टय है। अनन्त चतुष्टय यानी अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त वीर्य। फिर भी जैसे सूरज के बादलों से आच्छादित होने पर प्रकाश की उपलब्धि नहीं होती, उसी प्रकार जीव में समस्त ज्ञान होते हुए भी कर्मादि द्वारा उत्पन्न व्यवधान के कारण ज्ञान का अभाव प्रतीत होता है और मनुष्य बन्धन में पड़ जाता है। जैसे बादल के हटने से सूरज चमकने लगता है, वैसे ही जब आत्मा

पर से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय कर्मों का आवरण हट जाता है तब आत्मा अपने स्व-स्वरूप में आ जाती है।

तंत्र दर्शन भी सभी भारतीय दर्शनों की तरह प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द आदि प्रमाणों की मान्यता देता है किन्तु तंत्र अन्य दर्शनों से भिन्न इन सभी प्रमाणों के मूल में चेतना को मानता है। तंत्र दर्शन (काश्मीर शैव दर्शन) के अनुसार चेतना ही इन सभी प्रमाणों का आधार है और चेतना ही इन सभी प्रमाणों को प्रकाशित करती है।[५] इस प्रकार चेतना या चिति यथार्थ प्रमाण है। चिति को एकमात्र यथार्थ प्रमाण प्रतिपादित करने के क्रम में तंत्र दर्शन के समक्ष सर्वप्रथम यह प्रश्न उठता है कि यह किस प्रकार ज्ञात होता है कि प्रत्यक्ष ज्ञान का यथार्थ साधन है। यहाँ शैव दर्शन कहता है कि हमारी बुद्धि या चेतना प्रत्यक्ष की सत्यता को जान लेती है, अर्थात् चेतना ही प्रत्यक्ष के माध्यम से प्रत्यक्ष कराती है, क्योंकि मात्र ज्ञानेन्द्रियों का विषय के साथ सन्निकर्ष हो जाना ही प्रत्यक्ष को प्रमाण रूप में प्रतिष्ठित नही करता। हमारी चेतना ही ज्ञानेन्द्रिय तथा विषय के संयोग द्वारा ज्ञान प्राप्त करती है और वही प्रत्यक्ष को प्रमाण रूप में प्रतिपादित करती है। आगम प्रमाण के विषय में कहा गया है कि आगम अन्त:विचार या ईश्वर के ज्ञान की भाषीय अभिव्यक्ति है जो चैतन्य स्वरूप है, अत: आगम प्रमाण के रूप में चेतना या चिति ही सिद्ध है।

जैन दर्शन भी चेतना अर्थात् आत्मा से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण मानता है। प्रत्यक्ष ज्ञान के अन्तर्गत वह अवधि, मन:पर्यव तथा केवलज्ञान को मानता है तथा इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को परोक्ष ज्ञान के अन्तर्गत रखता है। मति और श्रुत ज्ञान परोक्ष ज्ञान हैं। जैनों के अनुसार आप्तवचन या शास्त्रों से प्राप्त ज्ञान ही आगम या श्रुत ज्ञान है।

बौद्ध दर्शन के अनुसार आगम प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान में ही अन्तर्भूत है, क्योंकि शब्दादि से सम्बद्ध परोक्ष अर्थ का बोध अनुमान से होता है, जो अनुमान का ही शब्दान्तर है। समस्त प्रमाणों में प्रत्यक्ष एक ऐसा प्रमाण है जिसे सभी भारतीय दर्शनों के सम्प्रदायों ने स्वीकार किया है, भले ही परिभाषा एवं स्वरूप भेद को लेकर कतिपय मतवैभिन्नता है। प्रत्यक्ष का प्रयोग प्रमाण और प्रमा दोनों ही अर्थों में किया जाता है, इसे यथार्थ ज्ञान का साधन एवं साध्य दोनों माना जाता है। प्रत्यक्ष प्रमाण सभी प्रमाणों का आधार है[६] इसलिए सभी प्रमाणों में इसका विशेष महत्त्व है।

तंत्र दर्शन के अनुसार आत्मा अथवा चेतना ही ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से प्रत्यक्ष तथा व्याप्ति आदि साधनों के द्वारा अनुमान करती है, किन्तु सांख्य दर्शन में यह कार्य बुद्धि द्वारा सम्पादित होना माना गया है, न कि सीधे पुरुष अथवा आत्मा

या चेतना के द्वारा। प्रत्यभिज्ञा दर्शन चेतना अथवा आत्मा को स्वयं प्रमाणित मानता है। आचार्य उत्पलदेव ने 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शनी' में कहा है कि ज्ञान की हर प्रक्रिया ज्ञाता का पूर्व अस्तित्व सिद्ध करती है। बिना ज्ञाता के ज्ञान नहीं हो सकता।[७] यदि आत्मा (चेतना) का निषेध किया जाय तो निषेधकर्ता के रूप में आत्मा (चेतना) का अस्तित्व स्वत: मान्य होगा।

तंत्र दर्शन में चेतना के दो रूप माने गये हैं- प्रथम निम्नतर चेतना अथवा पशुज्ञान और द्वितीय उच्चतर चेतना अथवा शिवज्ञान। पशुज्ञान के स्तर पर चेतना मल से आबद्ध रहती है। इसलिए इस स्तर पर ज्ञान सीमित अथवा अपूर्ण रहता है। शिवज्ञान का स्तर चेतना की उच्चतर अवस्था है, जहाँ चेतना मल आदि बन्धन से सर्वथा मुक्त है। आगम चेतना की उच्चतम अवस्था की अभिव्यक्ति है। शिवज्ञान प्राप्त योगी अथवा मुक्तात्मा स्वयं शिव ही है और आगम योगियों द्वारा अनुकूल किये गये तथ्यों का संग्रह है।

अत: तंत्र दर्शन का मूल मंत्र यह है कि वस्तु के ज्ञान प्राप्ति में चेतना सक्रिय रहती है। संवेदन प्रदत्त प्रत्यक्षात्मक ज्ञान ज्ञान का रूप तभी लेते हैं जब मन क्रियाशील होकर उन्हें ग्रहण करता है। अत: ज्ञान यथार्थत: क्रिया है।

संदर्भ-सूची

१. इयमेव च संवित्स्वभावता। **ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी,** भाग १, पृ० ३२

२ वही, पृ० ३

३ प्रकाशएव च आत्मा तत् न तत् कारक व्यापाठात् प्रमाण। व्यापाराऽपि नित्यवत् स्वप्रकाश त्वरचापि तत्र भावात्। **वही,** पृ० १८

४. सर्प आत्मानमात्मना वेष्यति । **स्याद्वादमंजरी,** पृ० ४३

५. **ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी**, २/३/२

६. सर्वप्रमाणानाम् प्रत्यक्ष पूर्वत्वात्। **न्या० वा० तात्पर्य टीका**, १-३

७. कर्तरि ज्ञातारि स्वात्मन्यादि सिद्धे महेश्वरे।
अजडात्मा निषेध वा सिद्धि वा विदधीतक:।। **ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी** १.१.२

*

श्रमण, वर्ष ५८, अंक २-३
अप्रैल-सितम्बर २००७

जैन दर्शन एवं योगवासिष्ठ में ज्ञान की क्रमागत अवस्थाओं का विवेचन

डॉ० मनोज कुमार तिवारी*

साधना-पद्धति में आध्यात्मिक विकास या नैतिक विकास का अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। चाहे वह वैदिक पद्धति हो अथवा अवैदिक, सभी में लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आध्यात्मिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं को स्वीकार किया गया है। आध्यात्मिक विकास को व्यावहारिक रूप में चारित्रिक विकास की संज्ञा से विभूषित किया जा सकता है, क्योंकि चारित्र की विविध दशाओं के आधार पर ही आध्यात्मिक विकास की भूमिओं या अवस्थाओं का सहज रूप में अनुमान किया जाता है। जैन दर्शन में आध्यात्मिक पूर्णता अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति ही साधक का लक्ष्य माना गया है। यदि हम पारिभाषिक रूप में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि आत्मा का स्वरूप में स्थित हो जाना ही आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति है। यह साधक का परम लक्ष्य भी है। साधक को स्व-स्वरूप में स्थित होने के लिए साधना की विभिन्न अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। यद्यपि आत्मा का वास्तविक स्वरूप शुद्ध ज्ञानमय एवं सुखमय है।

मोक्ष-प्राप्ति के उत्तम साधन क्या हैं - इस विषय पर मतभेद है, लेकिन 'योगवासिष्ठ' का स्पष्ट मत है कि ज्ञान के सिवाय मोक्ष का कोई उपाय नहीं है। वह ज्ञान केवल वाचिक ज्ञान नहीं है, न वह तर्कमात्र है, बल्कि वह आचारनिष्ठ भी है। मुक्ति का अनुभव करने वाला ज्ञान व उसका अनुभव वास्तविक होना चाहिए, केवल कथन मात्र नहीं। ब्रह्मदृष्टि प्राप्त जीव को उस दृष्टि के अनुसार व्यवहार भी करना है। यदि हमारा जीवन हमारी उच्चतम दृष्टि के अनुसार नहीं है तो हमारा ज्ञान परिपक्व ज्ञान नहीं है। केवल वाद-विवाद और जीविका के लिए जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है, वह ज्ञान ऐसा नहीं है, जो मोक्ष पद दिला सके। ज्ञानी वह है जिसका जीवन आध्यात्मिक है। यदि जीवन को ऊँचा बनाने के लिए ज्ञान प्राप्त नहीं किया, बल्कि केवल नाम, यश और जीविका आदि के लिये ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया है, तो ऐसे ज्ञानी को 'योगवासिष्ठ' में ज्ञानी न कहकर 'ज्ञानबन्धु' कहा गया है।

* *अंशकालिक प्रवक्ता, तुलनात्मक धर्म एवं दर्शन विभाग, संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी*

इस ज्ञान को पूर्णतया प्राप्त करने के लिए अभ्यास की आवश्यकता है। ज्ञान का अभ्यास क्रमशः होता है और उस क्रम का एक ही जीवन में आरम्भ और समाप्त होना भी साधारणतया सम्भव नहीं है। अतः ज्ञान को प्राप्त करने और उसको अभ्यास द्वारा सिद्ध करने में अनेक जन्म लग जाते हैं। कितने समय और कितने जन्मों में ज्ञान की सिद्धि और उससे जीवन्मुक्ति की प्राप्ति होगी यह प्रत्येक व्यक्ति के अपने पुरुषार्थ पर निर्भर है। जिनमें अधिक लगन होती है और जो अधिक यत्न करते हैं, वे जल्द ही परम पद को प्राप्त कर लेते हैं। जब साधक को अत्यन्त तीव्र वैराग्य और तीव्र मुमुक्षा होती है तब उसे क्षणभर में मोक्ष का अनुभव हो जाता है। इसलिए मोक्ष की वासना होने और मोक्ष का अनुभव होने में कितने समय का अन्तर है, यह नहीं बताया जा सकता। ज्ञानी और विद्वान् लोग केवल इसी बात का निर्णय कर सकते हैं कि ज्ञान-मार्ग का क्रम क्या है, किन-किन सीढ़ियों पर चढ़कर ज्ञान की सिद्धि का इच्छुक अपने ध्येय पर पहुँच सकता है। ज्ञान के मार्ग पर जो विशेष क्रमिक अवस्थाएँ आती हैं उन्हें 'योगवासिष्ठ' में भूमियाँ अथवा भूमिकायें कहा गया है। जैन दर्शन ने इनका नाम गुणस्थान रखा है, तो पातञ्जलयोग में योग के अंग नाम से विभूषित किया है। जैन दर्शन के अनुसार चौदह (१४) गुणस्थान हैं, बौद्धों के अनुसार दस भूमियाँ हैं, पतञ्जलि के अनुसार योग के आठ अंग हैं। 'योगवासिष्ठ' ने ज्ञान की सात भूमिकाओं को स्वीकार किया है। हम यहाँ पर जैन दर्शन के चौदह गुणस्थानों एवं 'योगवासिष्ठ' की सात भूमिकाओं का विवेचन करेंगे।

जैन परम्परा में आध्यात्मिक विकास-क्रम की चौदह अवस्थाएँ मानी गयी हैं जिन्हें चौदह गुणस्थान के नाम से जाना जाता है। आत्मिक गुणों के विकास की क्रमिक अवस्थाओं को गुणस्थान कहते हैं। गुणस्थान जैन चारित्र विकास की चौदह सीढ़ियाँ हैं। साधक को इन्हीं सीढ़ियों से चढ़ना-उतरना पड़ता है। आत्मा की विकास-प्रक्रिया में उत्थान-पतन का होना स्वाभाविक है। आत्मशक्ति की विकसित और अविकसित अवस्था को ही जैन परम्परा में गुणस्थान कहा गया है। चौदह गुणस्थान इस प्रकार हैं - (१) मिथ्यात्व (२) सास्वादन (३) मिश्रदृष्टि (४) अविरत सम्यक्-दृष्टि (५) देश-विरति सम्यक्-दृष्टि (६) प्रमत्तसंयत (७) अप्रमत्तसंयत (८) अपूर्वकरण (९) अनिवृत्तिकरण (१०) सूक्ष्मसम्पराय (११) उपशान्तमोह (१२) क्षीणमोह (१३) सयोग केवली और (१४) अयोग केवली। प्रथम से चतुर्थ गुणस्थान तक का क्रम दर्शन की अवस्थाओं को प्रकट करता है, जबकि पाँचवे से बारहवें गुणस्थान तक का विकास-क्रम सम्यक्-चारित्र से सम्बन्धित है। तेरहवाँ एवं चौदहवाँ गुणस्थान आध्यात्मिक पूर्णता का द्योतक है।

१. मिथ्यात्व गुणस्थान - इस अवस्था में आत्मा यथार्थ ज्ञान और सत्यानुभूति से वंचित रहती है। यह आत्मा की अज्ञानमय अवस्था है। इसमें मोह की प्रबलतम स्थिति होने के कारण व्यक्ति की आध्यात्मिक स्थिति बिल्कुल गिरी हुई होती है, क्योंकि प्राणी यथार्थबोध के अभाव में बाह्य पदार्थों से सुखों की प्राप्ति की कामना करता है। मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में आत्मा ऐकान्तिक धारणाओं, विपरीत धारणाओं, वैनयिकता (रूढ़ परम्पराओं), संशय और अज्ञान से युक्त रहती है,[१] जिसके कारण उसको यथार्थ दृष्टिकोण उसी प्रकार अरुचिकर लगता है जिस प्रकार ज्वर से पीड़ित व्यक्ति को भोजन।[२] हम ऐकान्तिक दृष्टिकोण या पाक्षिक व्यामोह के कारण आत्मा के यथार्थ स्वरूप को देख नहीं पाते हैं। अत: जब व्यक्ति ऐकान्तिक दृष्टिकोण का त्याग कर देता है तो यथार्थ दृष्टिकोणवाला कहलाने लगता है। जैसा कि पं० सुखलाल जी संघवी ने कहा है कि प्रथम गुणस्थान में रहने वाली ऐसी अनेक आत्माएँ होती हैं, जो राग-द्वेष के तीव्रतम वेग को थोड़ा-सा दबाये हुए होती हैं। वे यद्यपि आध्यात्मिक लक्ष्य के प्रति सर्वदा अनुकूलगामी नहीं होतीं, तो भी उनका बोध व चारित्र अन्य अविकसित आत्माओं की अपेक्षा अच्छा ही होता है। यद्यपि ऐसी आत्माओं की अवस्था आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वथा आत्मोन्मुख न होने के कारण मिथ्या-दृष्टि, विपरीत-दृष्टि या असत्-दृष्टि कहलाती हैं, तथापि वे सत्-दृष्टि के समीप ले जानेवाली होने के कारण उपादेय मानी गयी हैं।[३] अत: कहा जा सकता है कि इस गुणस्थान का मुख्य लक्षण मिथ्यादर्शन है।

२. सास्वादन गुणस्थान - सास्वादन गुणस्थान को क्रम की अपेक्षा से विकासशील कहा जा सकता है, लेकिन यह गुणस्थान आत्मा की पतनोन्मुख अवस्था का द्योतक है। मिथ्यादृष्टि व्यक्ति को मोह का प्रभाव कम होने पर जब कुछ क्षणों के लिए सम्यक्त्व अर्थात् यथार्थता की क्षणिक अनुभूति होती है, तब उसे सास्वादन सम्यक्-दृष्टि के नाम से अभिहित किया जाता है। जिस प्रकार खाना-खाने के बाद वमन होने पर वमित वस्तु का एक विशेष प्रकार का आस्वादन होता है, उसी प्रकार यथार्थ बोध हो जाने पर मोहासक्ति के कारण जब पुन: अयथार्थता का ग्रहण होता है तब उसे ग्रहण करने के पूर्व थोड़े समय के लिए उस यथार्थता का एक विशिष्ट प्रकार का अनुभव बना रहता है। यही सास्वादन गुणस्थान कहलाता है। इस गुणस्थान में कोई भी आत्मा प्रथम गुणस्थान से होकर नहीं आती, बल्कि ऊपर की श्रेणियों से पतित होकर जब प्रथम गुणस्थान की ओर जाती है तब इस द्वितीय गुणस्थान की अवस्था से गुजरती है। इसका काल अति अल्प होता है। जिस प्रकार फल को वृक्ष से टूटकर पृथ्वी पर पहुँचने में जो समय लगता है, उसी प्रकार आत्मा की गिरावट में जो समय लगता है वही समयावधि सास्वादन गुणस्थान के नाम से जानी जाती है।

३. मिश्र गुणस्थान - यह गुणस्थान आत्मा की वह अवस्था है जिसमें न केवल सम्यक्-दृष्टि होती है और न केवल मिथ्या-दृष्टि। इस अवस्था में साधक सत्य-असत्य, शुभाशुभ में भेद नहीं कर पाने कारण अनिर्णय एवं अनिश्चय की स्थिति में रहता है। इस गुणस्थान में आत्मा प्रथम गुणस्थान से विकसित होकर नहीं आती है, बल्कि चतुर्थ गुणस्थान से पतित होकर प्रथम गुणस्थान को प्राप्त करने के लिए इस अवस्था से गुजरकर जाती है, परन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि आत्माएँ तृतीय गुणस्थान में विकसित होकर आ ही नहीं सकती, बल्कि प्राप्त कर सकती हैं। जो आत्माएँ चतुर्थ गुणस्थान में यथार्थ का बोध करके पुन: पतित होकर प्रथम गुणस्थान को प्राप्त करती हैं, वे हीं आत्माएँ अपनी उत्क्रान्ति काल में प्रथम गुणस्थान से सीधे तृतीय गुणस्थान में आती हैं, लेकिन जिन आत्माओं ने कभी सम्यक्त्व का स्पर्श नहीं किया है, वे अपने विकास में प्रथम गुणस्थान से सीधे चतुर्थ गुणस्थान में आती हैं। इस प्रकार मिश्र गुणस्थान जीवन के संघर्ष की अवस्था का द्योतक है। इस गुणस्थान की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि इस अवस्था में मृत्यु नहीं होती है। इस सन्दर्भ में आचार्य नेमीचन्द्र का कहना है कि मृत्यु उसी स्थिति में सम्भव होती है, जिसमें भावी आयुकर्म का बन्ध नहीं होता, अत: मृत्यु भी नहीं हो सकती।[४]

४. अविरत सम्यक्-दृष्टि गुणस्थान - इस अवस्था में साधक को यथार्थता का बोध हो जाता है। उसका दृष्टिकोण सम्यक् होता है, फिर भी उसका आचरण नैतिक नहीं होता। उसका ज्ञानात्मक पक्ष सम्यक् होने पर भी आचरणात्मक पक्ष असम्यक् होता है। वह अशुभ को अशुभ मानता है, लेकिन अशुभ के आचरण से बच नहीं पाता। ऐसा इसलिए होता है कि इस अवस्था में वासनाओं को आंशिक रूप से क्षय किया जाता है और आंशिक रूप से दबाया जाता है। दबी हुई वासना पुन: प्रकट होकर आत्मा को यथार्थता की ओर अग्रसर कर देती है। 'महाभारत' में ऐसा चरित्र हमें भीष्म पितामह का मिलता है जो कौरवों के पक्ष को अन्याययुक्त, अनुचित और पाण्डवों के पक्ष को न्यायपूर्ण और उचित मानते हुए भी कौरवों के पक्ष में ही रहने को विवश है। जैन विचार इसी को अविरत सम्यक्दृष्टि कहता है।

५. देशविरति सम्यक्-दृष्टि गुणस्थान - यह विकास की पाँचवी श्रेणी है, इस अवस्था में वासनाओं एवं कषायों पर आंशिक नियंत्रण की क्षमता का विकास होना शुरू हो जाता है। नैतिक आचरण की दृष्टि से यह प्रथम स्तर ही है। देशविरति का अर्थ है - वासनामय जीवन से आंशिक रूप से निवृत्ति। हिंसा, झूठ, परस्त्रीगमन आदि अशुभाचार तथा क्रोध, लोभ, मोहादि कषायों से आंशिक रूप से विरत होना ही देशविरति है। इस अवस्था का साधक साधना-पथ पर फिसलता तो है लेकिन उसमें सम्भलने की भी क्षमता होती है।

६. प्रमत्तसंयत गुणस्थान - इस अवस्था में वह पूर्णतया सम्यक्-चारित्र की आराधना प्रारम्भ कर देता है। उसका व्रत अणुव्रत न कहलाकर महाव्रत कहलाता है। साधक अपनी आध्यात्मिक परिस्थिति के अनुसार इस भूमिका से नीचे गिर सकता है और ऊपर चढ़ सकता है। जब-जब साधक कषायादि प्रमादों पर अधिकार कर लेता है तब-तब वह ऊपर की श्रेणी में चला जाता है और जब-जब कषायादि प्रमाद उस पर हावी होते हैं तब-तब वह आगे की श्रेणी से विचलित होकर पुनः इस श्रेणी में आ जाता है। वस्तुतः यह उन साधकों का विश्रान्ति स्थल है जो साधना-पथ पर प्रगति तो करना चाहते हैं, लेकिन यथेष्ट शक्ति के अभाव में आगे बढ़ नहीं पाते। इस अवस्था में आत्म-कल्याण के साथ लोक-कल्याण की भावना और तदनुकूल प्रवृत्ति भी होती है।

७. अप्रमत्तसंयत्त गुणस्थान - इस अवस्था में साधक व्यक्त-अव्यक्त सम्पूर्ण प्रमादादि दोषों से रहित होकर आत्मसाधना में लीन रहता है। लेकिन प्रमादजन्य वासनाएँ बीच-बीच में साधक का ध्यान विचलित करती रहती हैं। इस कारण से साधक की नैया छठवें और सातवें गुणस्थान के बीच में डोलायमान रहती है। यह गुणस्थान नैतिकता और अनैतिकता के मध्य होने वाले संघर्ष की पूर्व तैयारी का स्थान है।

८. अपूर्वकरण गुणस्थान - यह अवस्था आत्मगुण-शुद्धि अथवा लाभ की अवस्था है, क्योंकि इस अवस्था में साधक का चारित्रबल विशेष बलवान होता है और वह प्रमाद एवं अप्रमाद के इस संघर्ष में विजयी बनकर विशेष स्थायी अप्रमत्त अवस्था को प्राप्त कर लेता है, फलतः उसे एक ऐसी शक्ति की प्राप्ति होती है जिससे वह शेष बचे हुए मोहासक्ति को भी नष्ट कर सकता है। यद्यपि जैन दर्शन नियति और पुरुषार्थ के सिद्धान्तों के संदर्भ में ऐकान्तिक दृष्टिकोण नहीं अपनाता है, फिर भी यदि पुरुषार्थ और नियति के प्राधान्य की दृष्टि से गुणस्थान सिद्धान्त पर विचार किया जाय तो प्रथम से सातवें गुणस्थान तक की सात श्रेणियों में नियति की प्रधानता प्रतीत होती है और आठवें से चौदहवें गुणस्थान तक की सात श्रेणियों में पुरुषार्थ का प्राधान्य प्रतीत होता है। आठवें गुणस्थान से अपूर्वकरण की प्रक्रिया के द्वारा आत्मा कर्मों पर शासन करती है। प्राणि-विकास की चौदह श्रेणियों में प्रथम सात श्रेणियों तक अनात्म का आत्म पर अधिशासन होता है और अंतिम सात श्रेणियों में आत्म का अनात्म पर अधिशासन होता है।

९. अनिवृत्तिकरण गुणस्थान - दृष्ट, श्रुत अथवा भुक्त विषयों की आकांक्षा का अभाव होने के कारण नवें गुणस्थान में अध्यवसायों की विषयाभिमुखता

नहीं होती अर्थात् भाव पुन: विषय की ओर नहीं लौटते। आध्यात्मिक विकास के क्रम में गतिशील साधक जब कषायों में केवल बीजरूप सूक्ष्म लोभ छोड़कर शेष सभी कषायों का क्षय या उपशमन कर देता है, उसके काम आदि वासनात्मक भाव भी समूल नष्ट हो जाते हैं, तब आध्यात्मिक विकास की यह अवस्था प्राप्त होती है।

१०. सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान - मोहनीयकर्म की २८ कर्म-प्रकृतियों में से २७ कर्म-प्रकृतियों के क्षय या उपशम हो जाने पर जब मात्र संज्वलन लोभ शेष रह जाता है तब साधक इस गुणस्थान में पहुँचता है। आध्यात्मिक पतन के कारणों में मात्र सूक्ष्म लोभ के शेष रहने के कारण ही इस गुणस्थान का नाम सूक्ष्मसम्पराय है।

११. उपशान्तमोह गुणस्थान - आध्यात्मिक विकास की इस अवस्था में साधक उपशम-विधि द्वारा कषायों को दबाकर ही प्रवेश करता है। जो साधक इस विधि द्वारा आगे बढ़ते हैं, उनके पतन की सम्भावना निश्चित रहती है। 'गोम्मटसार' में कहा गया है कि जिस प्रकार शरद ऋतु में सरोवर का पानी मिट्टी के नीचे बैठ जाने से स्वच्छ दिखाई पड़ता है, लेकिन उसकी निर्मलता स्थायी नहीं होती, मिट्टी के कारण समय आने पर पुन: मलिन हो जाता है, उसी प्रकार जो आत्माएँ मिट्टी के समान कर्मजल के दब जाने से नैतिक प्रगति एवं आत्मशुद्धि की इस अवस्था को प्राप्त करती हैं वे एक समयावधि के पश्चात् पुन: पतित हो जाती हैं।[५] यही कारण है कि उपशम-विधि के द्वारा आध्यात्मिक विकास करने वाला साधक साधना के मार्ग में उच्च स्तर पर पहुँचकर भी पतित हो जाता है।

१२. क्षीणमोह गुणस्थान - इस अवस्था में साधक क्षायिक विधि के द्वारा दसवें गुणस्थान से सीधे बारहवें गुणस्थान में आ जाता है। यह नैतिक विकास की पूर्ण अवस्था है। उसके जीवन में नैतिकता और अनैतिकता के मध्य होने वाले संघर्ष सदैव के लिए समाप्त हो जाते हैं, क्योंकि संघर्ष के कारणरूप कोई भी वासना शेष नहीं रहती। ग्यारहवें गुणस्थान की अपेक्षा बारहवें गुणस्थान की यही विशेषता है कि विकास की भूमि में साधक के पतन की कोई सम्भावना नहीं रहती है।

१३. सयोगकेवली गुणस्थान - जैन दर्शन में कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापार को 'योग' संज्ञा से विभूषित किया गया है और इन योगों के अस्तित्व के कारण ही इस अवस्था को सयोगकेवली गुणस्थान कहा गया है। इस गुणस्थान में आने वाला साधक, साधक की श्रेणी में नहीं रह जाता और न ही उसे सिद्ध ही कहा जा सकता है, क्योंकि उसकी आध्यात्मिक पूर्णता में कुछ कमी रहती

है। अष्ट कर्मों में से चार घातीय कर्म तो क्षय कर चुके होते हैं लेकिन चार अघातीय कर्म - आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मों के अस्तित्व के बने रहने के कारण आत्मा देह से अपने सम्बन्ध का परित्याग नहीं कर पाती है। इसे सदेहमुक्ति या जीवन्मुक्ति भी कहते हैं। जैन परम्परा में इस अवस्था को अर्हत्, सर्वज्ञ, केवली आदि नामो से विभूषित किया गया है।

१४. अयोगकेवली गुणस्थान - सयोगकेवली गुणस्थान में स्थित साधक आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त तो कर लेता है, लेकिन आत्मा का शरीर के साथ सम्बन्ध बना रहता है। सयोगकेवली जब अपने शरीर से मुक्ति पाने के लिए विशुद्ध ध्यान का आश्रय लेकर मानसिक, वाचिक एवं कायिक व्यापारों को सर्वथा रोक देता है, तब वह आध्यात्मिक विकास की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। आत्मा की इसी अवस्था का नाम अयोगकेवली गुणस्थान है। इस अवस्था में कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापार का पूर्णतः निरोध हो जाता है। यह चारित्र-विकास या अध्यात्म-विकास की चरमावस्था है। आत्मा उत्कृष्टतम शुक्लध्यान द्वारा सुमेरु पर्वत की तरह निष्प्रकम्प स्थिति को प्राप्त कर अन्त में देहत्यागपूर्वक सिद्धावस्था को प्राप्त होती है। इसे जैन दर्शन में मोक्ष, निर्वाण, शिवपद एवं निर्गुण-ब्रह्म स्थिति कहा गया है।[६]

अब हम 'योगवासिष्ठ' में प्रतिपादित ज्ञान की सात भूमिकाओं पर विचार करेंगे। लेकिन इस पर विचार करने से पहले इसी ग्रन्थ में प्रतिपादित अज्ञान की सात भूमिकाओं का उल्लेख करना भी आवश्यक है। आत्मस्वरूप में अनादिकाल से अज्ञान का आरोप है। अज्ञान की सात भूमिकाएँ इस प्रकार हैं[७] - १. बीज जाग्रत् २. जाग्रत् ३. महाजाग्रत् ४. जाग्रत्-स्वप्न और ६. सुषुप्ति।

१. बीज जाग्रत् - सृष्टि के आदि में चिन्मय परमात्मा से जो प्रथम नाम-निर्देश रहित एवं विशुद्ध व्यष्टि चेतन प्रकट होता है, वह भविष्य में होनेवाले जीवादि नामों से पुकारा जा सकता है और जिसमें जाग्रत् अवस्था का अनुभव बीजरूप से स्थित होता है, उसे बीजजाग्रत् कहते हैं।

२. जाग्रत् - नवजात बीज जाग्रत् के पश्चात् यह ज्ञान कि 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा है' जाग्रत् कहलाता है। इसमें पूर्वकाल की कोई स्मृति नहीं होती।

३. महाजाग्रत् - पूर्व जन्मों मे उदय हुआ और दृढ़ता को प्राप्त हुआ यह ज्ञान कि 'यह मैं हूँ' और 'यह मेरा है', महाजाग्रत् कहलाता है। जैसे ब्राह्मण आदि जातियों में उत्पन्न हुए लोगों में से किसी-किसी व्यक्ति का जन्मान्तर के अभ्यास से अपने वर्णोचित कर्मों में विशेष आग्रह और नैपुण्य देखा जाता है, सबमें ऐसी बात

नहीं पायी जाती है। अत: इस जन्म के या जन्मान्तर के दृढ़ अभ्यास से दृढ़ता को प्राप्त हुई जो पूर्वोक्त जाग्रत् प्रतीति है, उसी को महाजाग्रत् कहा गया है।

४. जाग्रत्स्वप्न - जाग्रत् अवस्था का दृढ़ या अदृढ़ जो सर्वथा तन्मयात्मक मनोराज्य है, इसी को 'जाग्रत्स्वप्न' कहते हैं। वह कई प्रकार का होता है - जैसे एक चन्द्रमा की जगह दो चन्द्रमा का दर्शन, सीपी के स्थान पर चाँदी की प्रतीति और मृगतृष्णादि का भान। प्रचलित भाषा में इस प्रकार के ज्ञान को भ्रम कहते हैं। इसका उदय कल्पना द्वारा जाग्रत् दशा में होता है इसलिए इसका नाम जाग्रत् स्वप्न है।

५. स्वप्न - महाजाग्रत् अवस्था के अन्तर्गत निद्रा के समय अनुभव किये हुए विषय के प्रति जागने पर जब इस प्रकार का भाव हो कि यह विषय असत्य है और इसका अनुभव मुझे अल्प समय के लिये ही हुआ था, उस ज्ञान का नाम स्वप्न है।

६. स्वप्नजाग्रत् - जब अधिक समय तक जाग्रत् अवस्था के स्थूल विषयों और स्थूल देह का अनुभव न हो तो स्वप्न ही जाग्रत के समान होकर महाजाग्रत-सा मालूम पड़ने लगता है। स्थूल शरीर के रहते हुए अथवा न रहते हुए जब इस प्रकार का अनुभव होता है तो उसे स्वप्न जाग्रत कहते हैं।

७. सुषुप्ति - पूर्वोक्त छ: अवस्थाओं का परित्याग करने पर जो जीव की जड़ अवस्था है, वही भावी दु:खों का बोध करानेवाले बीजरूप अज्ञान से सम्पन्न सुषुप्ति है। इस अवस्था में संसार के तृण, मिट्टी, पत्थर आदि सब ही पदार्थ अत्यन्त सूक्ष्म रूप से वर्तमान रहते हैं।

इस प्रकार से ये सात प्रकार की अज्ञान की भूमिकायें हैं जो नाना प्रकार के विकारों तथा लोकान्तर-भेदों से युक्त होने के कारण निन्द्य एवं त्याज्य बतायी गयी हैं।

अज्ञान को नष्ट कर आत्मतत्त्व का बोध करानेवाली ज्ञान की सात भूमिकायें हैं। मुक्ति इन भूमिकाओं से परे है। मोक्ष और सत्य का ज्ञान ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। जिसको सत्य का ज्ञान हो गया है वह जीव फिर जन्म नहीं लेता। ज्ञान की सात भूमिकायें इस प्रकार हैं[४] - शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थभावनी और तुर्यगा। इनके अन्त में मुक्ति है जिसको प्राप्त करके शोक नहीं रहता। इन भूमिकाओं का वर्णन इस प्रकार है -

१. शुभेच्छा - वैराग्य उत्पन्न होने पर इस प्रकार की इच्छा कि मैं अज्ञानी क्यों रहूँ, क्यों न शास्त्र और सज्जनों की सहायता से सत्य को जानूँ शुभेच्छा कहलाती है।[५] शास्त्र-निषिद्ध कर्मों का मन, वाणी और शरीर से त्याग, निष्काम यज्ञ, दान आदि के अनुष्ठान से उत्पन्न संन्यास, मुक्तिपर्यन्त रहने वाली श्रवण आदि में प्रवृत्ति के

फलस्वरूप आत्म-साक्षात्कार की उत्कट इच्छा ही ज्ञान की पहली भूमिका है। इस भूमिका को 'श्रवण' भूमिका भी कहते हैं।

२. विचारणा - शास्त्रों के अध्ययन, मनन, सत्पुरुषों के संग तथा विवेक-वैराग्यपूर्ण सदाचार में प्रवृत्ति का नाम विचारणा है।[१०] दूसरे शब्दों में सत्पुरुषों के संग, सेवा एवं आज्ञापालन, सत्-शास्त्रों के अध्ययन-मनन से, तथा दैवी सम्पदारूप सद्गुण-सदाचार के सेवन से उत्पन्न हुआ विवेक ही 'विचारणा' है। भाव यह है कि सत्-असत् और नित्य-अनित्य वस्तु के विवेचन का नाम विवेक है। विवेक इनको पृथक् कर देता है। सब अवस्थाओं में और प्रत्येक वस्तु में प्रतिक्षण आत्मा और अनात्मा का विश्लेषण करते-करते यह विवेक सिद्ध होता है। उपर्युक्त विवेक के द्वारा जब सत्-असत् और नित्य-अनित्य का पृथक्करण हो जाता है, तब असत् और अनित्य से आसक्ति हट जाती है और इस प्रकार इहलोक और परलोक के सम्पूर्ण पदार्थों और कर्मों में कामना और आसक्ति का न रहना ही 'वैराग्य' है। महर्षि पतंजलि ने कहा है - **दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्** (योगदर्शन १/१५)। इस प्रकार विवेक-वैराग्य हो जाने पर साधक का चित्त निर्मल हो जाता है। उसमें क्षमा, सरलता, पवित्रता तथा प्रिय-अप्रिय की प्राप्ति में समता आदि गुण आने लगते हैं। प्रथम भूमिका में श्रवण किये हुए महावाक्यों (तत्त्वमसि, अहंब्रह्मास्मि आदि) का निरन्तर मनन और चिन्तन करना प्रधान होने के कारण ही इस दूसरी भूमिका को 'विचारणा' कहा गया है। इसे 'मनन' भूमिका भी कहा जाता है।

३. तनुमानसा - उपर्युक्त शुभेच्छा और विचारणा के द्वारा इन्द्रियों के विषय भोगों में आसक्ति का अभाव होना और अनासक्त हो संसार में विचरण करना तनुमानसा कहलाता है।[११] अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त कामना, आसक्ति और ममता के अभाव से, सत्पुरुषों के संग और सत्-शास्त्रों के अभ्यास से तथा विवेक-वैराग्यपूर्वक निदिध्यासन-ध्यान के साधन से साधक की बुद्धि तीक्ष्ण हो जाती है तथा उसका मन शुद्ध, निर्मल, सूक्ष्म और एकाग्र हो जाता है, जिससे उसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमात्मतत्त्व को ग्रहण करने की योग्यता अनायास ही प्राप्त हो जाती है। इसे 'निदिध्यासन' भूमिका भी कहा जा सकता है।

ये तीनों भूमिकाएँ साधनरूप हैं। इनमें संसार से कुछ सम्बन्ध रहता है, अतः यहाँ तक साधक की 'जाग्रत्-अवस्था' मानी गई है।

४. सत्त्वापत्ति - उपर्युक्त तीनों भूमिकाओं के अभ्यास से बाह्य विषयों में संस्कार न रहने के कारण चित्त में अत्यन्त विरक्ति होने से माया, माया के कार्य और

तीनों अवस्थाओं से शोधित, सबके आधार सन्मात्ररूप आत्मा में दूध में जल के समान ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेयभाव के विनाश से साक्षात्कारपर्यन्त निर्विकल्पक समाधिरूप स्थिति सत्त्वापति है।[१२] इस भूमिका में मन परमात्मसत्त्वरूप में स्थित होने से जीव ब्रह्मवित् कहलाता है। इसी को 'गीता' में निर्वाण/ब्रह्म की प्राप्ति कहा गया है - जो अन्त:करण में सुख का अनुभव करता है, जो कर्मठ है और अन्त:करण में ही रमण करता है तथा जिसका लक्ष्य अन्तर्मुख होता है वह सचमुच पूर्ण योगी है। वह परब्रह्म में मुक्ति पाता है और अन्ततोगत्वा ब्रह्म को प्राप्त होता है।[१३]

जिस प्रकार सारी नदियाँ बहती हुई अपने नाम-रूप को छोड़कर समुद्र में विलिन हो जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञानी महात्मा नामरूप से रहित होकर परम दिव्य पुरुष परात्पर परमात्मा को प्राप्त हो जाते हैं, उसी में विलीन हो जाते हैं।[१४]

जब साधक को परब्रह्म का यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तब वह ब्रह्म ही हो जाता है - **ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। (मुण्डकोपनिषद् ३/२/९)**

इस चौथी अवस्था में पहुँचे हुए पुरुष को ब्रह्मवित् - ब्रह्मवेत्ता कहा जाता है और वह लौटकर नहीं आता। इसमें वह ज्ञानी महात्मा के अन्त:करण में स्वप्नवत् भासित होता है, इसलिये यह उसके अन्त:करण की 'स्वप्नावस्था' मानी जाती है। श्री याज्ञवक्ल्यजी, राजा अश्वपति और जनक आदि इस भूमिका में पहुँचे हुए माने गये हैं।

५. असंसक्ति - जब पूर्वोक्त चारों के सिद्ध हो जाने के कारण सांसारिक विषयों के प्रति असंसक्ति होने पर सत्ता के प्रकाश में मन स्थिर हो जाए तब उसे असंसक्ति कहते हैं। बाह्याभ्यन्तर सभी विषय-संस्कारों से अत्यन्त असम्बन्ध रूप समाधिपरिपाक से चित्त में निरतिशयानन्द, नित्यापरोक्ष, ब्रह्मात्मभावसाक्षात्कार रूप चमत्कार उत्पन्न होने से ऐसी पाँचवी ज्ञानभूमि असंसक्ति नाम से जानी जाती है।[१५]

परम वैराग्य और परम उपरति के कारण उस ब्रह्म-प्राप्त ज्ञानी महात्मा का इस संसार और शरीर से अत्यन्त सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। ऐसे पुरुष का संसार से कोई भी प्रयोजन नहीं रहता। वह कर्म करने या न करने के लिये बाध्य नहीं है। 'गीता' में भगवान् ने कहा है - स्वरूपसिद्ध व्यक्ति के लिए न तो अपने नियत कर्मो को करने की आवश्यकता रह जाती है और न ऐसा कर्म न करने का कोई कारण ही रहता है। उसे किसी अन्य जीव पर निर्भर रहने की आवश्यकता भी नहीं रह जाती है।[१६] फिर भी उस ज्ञानी महात्मा पुरुष के सम्पूर्ण कर्म शास्त्रसम्मत और कामना एवं संकल्प से शून्य होते हैं। इस प्रकार जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्नि के द्वारा

भस्म हो गये हैं, उस महापुरुष को ज्ञानीजन भी पंडित कहते हैं।[१७] श्री भरत जी इस पाँचवी भूमिका में स्थित माने जा सकते हैं।

६. पदार्थाभावनी - पाँचवीं भूमिका के पश्चात् जब वह ब्रह्मप्राप्त पुरुष छठी भूमिका में प्रवेश करता है, तब उसकी नित्य समाधि रहती है। इसके कारण उसके द्वारा कोई भी क्रिया नहीं होती। उसके अन्तःकरण में शरीर और संसार के सम्पूर्ण पदार्थों का अत्यन्त अभाव-सा हो जाता है। उसे संसार का और शरीर के बाहर-भीतर का बिल्कुल ज्ञान नहीं रहता, केवल श्वास आते-जाते हैं। इसलिये इस भूमिका को पदार्थाभावनी कहते हैं।[१८] जैसे गाढ़ सुषुप्ति में स्थित पुरुष को बाहर-भीतर के पदार्थों का ज्ञान बिल्कुल नहीं रहता है, वैसे ही इसको भी ज्ञान नहीं रहता है। अतः उस पुरुष की इस अवस्था को 'गाढ़ सुषुप्ति अवस्था' भी कहा जा सकता है। किन्तु गाढ़ सुषुप्ति में स्थित पुरुष अज्ञान के कारण माया में विलिन हो जाता है। अतः उसकी स्थिति तमोगुणमयी है, पर इस ज्ञानी महापुरुष का मन-बुद्धि ब्रह्म में तद्रूप हो जाता है। अतः इसकी अवस्था गुणातीत है। इसलिए यह गाढ़ सुषुप्ति से अत्यन्त विलक्षण है।

गाढ़ सुषुप्ति में स्थित पुरुष तो निद्रा के परिपक्व हो जाने पर स्वतः ही जग जाता है। किन्तु इस समाधिस्थ ज्ञानी महात्मा पुरुष की व्युत्थानावस्था तो दूसरों के बारम्बार प्रयत्न करने पर ही होती है, अपने-आप नहीं। उस व्युत्थानावस्था में वह जिज्ञासु के प्रश्न करने पर पूर्व के अभ्यास के कारण ब्रह्म विषयक तत्त्व-रहस्य को बता सकता है। इसी कारण ऐसे पुरुष को 'ब्रह्मविद्वरीयान्' कहते हैं।

७. तुर्यगा - छठी भूमिका के पश्चात् सातवीं भूमिका स्वतः ही हो जाती है। उस ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी महात्मा पुरुष के हृदय में संसार का और शरीर के बाहर-भीतर के लौकिक ज्ञान का अत्यन्त अभाव हो जाता है। क्योंकि उसका मन और बुद्धि ब्रह्म में तद्रूप हो जाता है, इस कारण उसकी व्युत्थानावस्था तो न स्वतः होती है और न दूसरों के द्वारा प्रयत्न किये जाने पर ही होती है। जैसे मुर्दा जगाने पर भी नहीं जाग सकता, वैसे ही यह मुर्दे की भाँति हो जाता है। अंतर इतना ही रहता है कि मुर्दे में प्राण नहीं रहता और इसमें प्राण रहता है तथा यह श्वास लेता रहता है। ऐसे पुरुष का संसार में जीवन-निर्वाह दूसरे लोगों के द्वारा केवल उसके प्रारब्ध के संस्कारों के कारण ही होता रहता है। वह प्रकृति और उसके कार्य सत्त्व, रज, तम तीनों गुणों से और जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति- तीनों अवस्थाओं से अतीत होकर ब्रह्म में विलिन रहता है, इसलिये उसके अन्तःकरण की अवस्था 'तुर्यगा' भूमिका कहलाती है।[१९]

यह तुर्यगावस्था जीवन्मुक्त पुरुषों में इस शरीर के रहते हुए ही विद्यमान रहती है। इस देह का अन्त होने पर विदेह-मुक्ति का विषय साक्षात् तुर्यातीत ब्रह्म ही है।

ज्ञान की ये सात भूमिकाएँ विवेकी पुरुषों को ही प्राप्त होती हैं। जो इन भूमिकाओं में पहुँचकर उत्तरोत्तर उत्कृष्ट स्थानों पर विजय पाते जाते हैं, वे महात्मा निश्चय ही वन्दनीय हैं।

इस प्रकार से योगवासिष्ठ और जैन परम्परा में आध्यात्मिक विकास की ये अवस्थाएँ हैं जिनमें सात आध्यात्मिक विकास की अवस्था और सात आध्यात्मिक पतन की अवस्था है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो जैन परम्परा के गुणस्थान-सिद्धान्त में भी आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से विकास का सच्चा स्वरूप अप्रमत्त चेतना के रूप में सातवें स्थान से प्रारम्भ होता है। इस प्रकार जैन परम्परा में भी चौदह गुणस्थानों में सात अवस्थाएं आध्यात्मिक विकास की और सात अवस्थाएं आध्यात्मिक अविकास की हैं।[२०] योगवासिष्ठ की उपर्युक्त मान्यता की जैन परम्परा से कितनी निकटता है इसका निर्देश पं० सुखलाल जी ने भी किया है[२१] - 'योगवासिष्ठ एवं जैन परम्परा में आचरणात्मक पक्ष पर विशेष बल दिया गया है। जैन दर्शन के तीन रत्न है - सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र। जब तक हम ज्ञान को अपने आचरण में नहीं लाएगें तब तक हम मोक्ष की ओर अग्रसर नहीं होंगे। ज्ञानात्मक पक्ष के सम्यक् होने के साथ-साथ उसका आचरण पक्ष भी सम्यक् होना चाहिए। इसी प्रकार योगवासिष्ठ का भी ज्ञान और कर्म के सम्बन्ध में विचार है। इस ग्रंथ में ज्ञान और कर्म में समन्वय स्थापित किया गया है।'[२२] जो ज्ञान आचरण या व्यवहार में न हो उस ज्ञान का कोई अर्थ नहीं है। इस ग्रंथ ने तो यहाँ तक कहा है कि जो ज्ञानी ज्ञान के अनुरूप आचरण नहीं करते अर्थात् जिनकी कथनी और करनी में अंतर है, वे ज्ञानी नहीं ज्ञानबन्धु हैं और उनसे अच्छा अज्ञानी है। कहने का तात्पर्य यह है ये दोनों ही आचरण पक्ष को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। हम अपने लक्ष्य अर्थात् मोक्ष को तभी प्राप्त कर सकते हैं जब ज्ञान को अपने आचरण में समाविष्ट करें। वर्तमान समस्याओं के मूल में हमारे इस आचारण पक्ष का असम्यक् होना है। हम यथार्थ को जानते हैं ही, क्या सही है, क्या गलत है, इसे भी जानते हैं लेकिन उसे आचरण में चरितार्थ नहीं कर पाते। अत: हम ज्ञानात्मक पक्ष के साथ-साथ आचरणात्मक पक्ष को भी सम्यक् करके आध्यात्मिक पथ के पथिक बनकर अपने लक्ष्य की ओर उत्तरोत्तर अग्रसर हो सकते हैं।

संदर्भ :

१. **तत्त्वार्थसूत्र**, सर्वार्थसिद्धि टीका (पूज्यपाद), ८/१.

२. मिच्छतं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणो होदि।
ण य धम्मं रोचेदि हु, महुरं खु रसं जहा जरिदो। १/१७, **गोम्मटसर** (जीवकाण्ड), जे०एल०जैन, दी सेन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, अजित आश्रम, लखनऊ, १९२७.

३. जैन, सागरमल, **गुणस्थान सिद्धांत : एक विश्लेषण,** पृ० ५३, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, १९९६.

४. सम्मत्तमिच्छपरिणामेसु जहिं आउगं पुरा बद्धं।
तहिं मरणं मरणंत समुग्घादो वि य ण मिस्सम्मि। १/२४, **गोम्मटसर** (जीव-१ काण्ड) जे०एल० जैन, दी सेन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, अजित आश्रम, लखनऊ, १९२७.

५. कदकफलजुदजलं वा सरए सरवाणियं व णिम्मलयं।
सयलोवसंतमोहो, उबसंतकसायओ होदि। वही, १/६१.

६. **ज्ञानसार त्यागाष्टक** (उद्धृत-दर्शन एवं चिन्तन, पं०सुखलाल सघवी), पृ० २७५.

७. बीजजाग्रत्तथा जाग्रन्महाजाग्रत् तथैव च। **योगवासिष्ठ** ३/११७/११
जाग्रत्स्वप्नस्तथा स्वप्नः स्वप्नजाग्रत्सुषुप्तकम्।। वही, ३/११७/१२

८. ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा। वही, ३/११८/५.
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका।
पदार्थाभावनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता। वही, ३/११८/६.

९. स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्ष्येऽहं शास्त्रसज्जनैः।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः। वही, ३/११८/८.

१०. शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम्।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा। वही, ३/११८/९.

११. विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वसक्तता।
यात्र सा तनुताभावात् प्रोच्यते तनुमानसा। वही, ३/११८/१०

१२. भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थे विरतेर्वशात्।
सत्यात्मनि स्थितिः शुद्धे सत्त्वापत्तिरूदाहृता।। ३/११८/११.

१३. योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।। **गीता** ५/२४.

१४. यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।। **मुण्डकोपनिषद्** ३/२/८.

१५. दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसङ्गफलेन च।
रूढसत्त्वचमत्कारात् प्रोक्ताऽसंसक्तिनामिका।। **योगवासिष्ठ** ३/११८/१२.

१६. नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः। **गीता** ३/१८.

१७. यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।। वही, ४/१९.

१८. भूमिकापञ्चकाभ्यासात् स्वात्मारामतया दृढ़म्।
आभ्यन्तराणांबाह्यानां पदार्थानामभावनात्।। **योगवासिष्ठ** ३/११८/१३.

१९. भूमिषट्कचिराभ्यासाद् भेदस्याऽनुपलम्भतः।
यत् स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः।। वही, ३/११८/१५.

२०. जैन, सागरमल, **गुणस्थान सिद्धांत : एक विश्लेषण,** पृ० ११४-११५, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, १९९६.

२१. पं० सुखलाल जी, **दर्शन और चिन्तन,** पृ० २८२-२८३, गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद, १९५७.

२२. केवलात् कर्मणो ज्ञानान्न हि मोक्षोऽभिजायते।
किन्तूभाभ्यां भवेन्मोक्षः साधनं तूभयं विदुः।। **योगवासिष्ठ** १/१/८.

श्रमण, वर्ष ५८, अंक २-३
अप्रैल-सितम्बर २००७

वैदिक एवं श्रमण परम्पराओं की दार्शनिक पारस्परिकता

डॉ० विजय कुमार*

सामान्यतः पारस्परिकता से सहयोग का सम्बन्ध या आपसी आदान-प्रदान का सम्बन्ध माना जाता है। किन्तु इससे पारस्परिकता की आंशिक अभिव्यक्ति होती है, क्योंकि वास्तव में पारस्परिकता के अन्तर्गत सहयोग और असहयोग, मेल-मिलाप तथा विरोध दोनों ही आते हैं। वैदिक परम्परा तथा श्रमण परम्परा के बीच ऐसे ही सम्बन्ध हैं- विरोध एवं आपसी आदान-प्रदान के।

वैदिक परम्परा और श्रमण परम्परा में निम्नलिखित सैद्धान्तिक भेद हैं-

१. वैदिक परम्परा ईश्वरवादी है, जबकि श्रमण परम्परा अनीश्वरवादी है।

२. वैदिक परम्परा वेदों पर आधारित है, लेकिन श्रमण परम्परा के अपने स्वतंत्र साहित्य हैं- जैनागम और त्रिपिटक।

३. वैदिक परम्परा वर्ण-व्यवस्था को मान्यता देती है, जबकि श्रमण परम्परा में वर्ण जैसी कोई चीज नहीं है।

४. वैदिक परम्परा यज्ञ को महत्त्व देती है जिसमें बलि-प्रथा है। इसमें कहा गया है कि **'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति।'** अर्थात् वेदों में प्रतिपादित हिंसा हिंसा नहीं है। श्रमण परम्परा अहिंसावादी है। यह मानती है कि सामान्य व्यवहार में अथवा धर्म कार्य में की गई हिंसा हिंसा ही है और कुछ नहीं।

५. वैदिक परम्परा में ब्राह्मण ग्रन्थ तथा ब्राह्मण वर्ण की प्रधानता है जिसके कारण इसे ब्राह्मण परम्परा भी कहते हैं। श्रमण परम्परा में क्षत्रियों की प्रधानता है, इसलिए इसे क्षत्रिय परम्परा भी कहते हैं।

वैदिक परम्परा का श्री गणेश वेदों से होता है जिसका दार्शनिक रूप उपनिषदों में मिलता है। औपनिषदिक दर्शन ब्रह्मवादी है। ब्रह्म निरपेक्ष, निर्विकल्प तथा नित्य होता है। किन्तु वह ब्रह्म व्यवहार की दृष्टि से किसी काम का नहीं होता है।

* *प्राध्यापक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, आई०टी०आई० मार्ग, करौंदी, वाराणसी।*

क्योंकि वह निर्लिप्त होता है। उसका किसी से भी कोई सम्बन्ध नहीं होता है और न उसे किसी की अपेक्षा होती है। लेकिन व्यवहार सापेक्षता से चलता है। समाज में सबको एक-दूसरे की अपेक्षा होती है। जिस समाज में हम रहते हैं वह निरपेक्ष नहीं, बल्कि सापेक्ष होता है। अत: समाज के लिए सापेक्षता की अनिवार्यता होती है। इसकी पूर्ति श्रमण परम्परा की जैन शाखा करती है। जैन दर्शन सापेक्षतावादी है। इसकी सापेक्षता अनेकान्तवाद, स्याद्वाद तथा अहिंसावाद के नामों से जानी जाती है। अनेकान्तवाद अनेक दृष्टियों, अनेक सीमाओं, अनेक अपेक्षाओं में विश्वास करता है। जैन तत्त्वमीमांसा बताती है कि किसी भी वस्तु के अनन्त धर्म होते हैं।[१] धर्म से मतलब है लक्षण, विशेषता आदि। अनन्त धर्मों को सामान्य व्यक्ति नहीं जान सकता है। वह कुछ धर्मों को ही जान पाता है। अनन्त धर्मों में से कुछ को एक व्यक्ति जानता है, कुछ को दूसरा व्यक्ति जानता है, कुछ को तीसरा व्यक्ति जानता है। इस तरह सभी अपनी-अपनी सीमाओं में, अपनी-अपनी दृष्टियों में वस्तु को जानते हैं और वे अपनी-अपनी अपेक्षा से सही होते हैं। सभी के बोध आंशिक, अपूर्ण तथा सीमित होते हैं। इनमें किसी से किसी का विरोध नहीं होता है और कोई गलत भी नहीं होता है। एक ही व्यक्ति या वस्तु के विभिन्न चित्र जो विविध कोणों से लिए जाते हैं, सही होते हैं। उनकी विविधता के कारण उनकी यथार्थता बाधित नहीं होती है। क्योंकि वे सभी सापेक्ष होते हैं, आंशिक होते हैं। जैन दर्शन के इस सापेक्षतावाद से औपनिषदिक दर्शन प्रभावित है। उपनिषदों में ब्रह्म का वर्णन करते हुए उसे लघु से लघु तथा महान से महान कहा गया है।[२] यह कथन सापेक्षतावादी है निरपेक्षतावादी नहीं। यहाँ दो दृष्टियाँ, दो अपेक्षाएँ हैं। जब ब्रह्म पर लघुता की दृष्टि से विचार किया जाता है तब वह सबसे लघु कहलाता है, लेकिन जब ब्रह्म पर महानता की दृष्टि से विचार करते हैं तो वह महान से महान या सबसे महान समझा जाता है। ब्रह्म को लघु से लघु तथा महान से महान कहना विरोधी कथन नहीं है, बल्कि सापेक्ष कथन है।

औपनिषदिक दर्शन पर इस प्रभाव को देखते हुए ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि यह सिर्फ जैन दर्शन से प्रभावित है और इसने जैन पर कोई प्रभाव नहीं डाला है। औपनिषदिक निरपेक्षवाद का भी स्पष्ट प्रभाव जैन दर्शन पर दिखाई पड़ता है। वह प्रभाव जैन दर्शन की ज्ञानमीमांसा पर है। जैन ज्ञानमीमांसा ने पाँच प्रकार के ज्ञानों का प्रतिपादन किया है- मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यव तथा केवल। इनमें मति तथा श्रुत ज्ञान परोक्ष ज्ञान है, क्योंकि इनकी उपलब्धि इन्द्रियों तथा मन से होती है। अवधि, मन:पर्यव तथा केवल प्रत्यक्ष ज्ञान हैं, क्योंकि इनके बोध आत्मा से होते हैं। इनमें केवलज्ञान पूर्ण ज्ञान है। केवलज्ञान में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का भेद मिट जाता है। कैवल्य की स्थिति पूर्णता, एकत्व तथा निरपेक्षता की स्थिति होती है। इसीलिए इसे

केवलज्ञान कहते हैं। यह सर्वज्ञता की स्थिति है। जो पूर्ण होता है, एक होता है, वह निरपेक्ष भी होता है। अत: यहाँ औपनिषदिक दर्शन का प्रभाव जैन दर्शन पर प्रकाशित होता है। इतना ही नहीं जब हम जैन प्रमाणमीमांसा के विभाजन पर दृष्टिपात करते हैं तो वहाँ भी वैदिक प्रमाणमीमांसा का स्पष्ट प्रभाव नजर आता है, क्योंकि सामान्य रूप से इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष कहा गया है। लेकिन जैन दर्शन इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष को परोक्ष ज्ञान के अन्तर्गत रखता है और आत्मा से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहता है। जब हम भारतीय दर्शन की अन्य शाखाओं की दृष्टि से जैन दर्शन द्वारा किये गये प्रमाण के प्रकारों का मूल्यांकन करते हैं तो जैन दर्शन का परोक्ष ज्ञान 'मति' प्रत्यक्ष की श्रेणी में आ जाता है। यहाँ आचार्य अकलंक ने कुछ संशोधन करते हुए प्रत्यक्ष को दो भागों- सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और पारमार्थिक प्रत्यक्ष के रूप में विभाजित कर दिया। इस विभाजन का दूसरा नाम इन्द्रिय प्रत्यक्ष और नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष भी है। इस प्रकार इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से होने वाले ज्ञान को आचार्य अकलंक ने इन्द्रिय प्रत्यक्ष में रखा और आत्मा से होने वाले ज्ञान को नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष के अन्तर्गत माना। अकलंक द्वारा किया गया यह विभाजन जैन प्रमाणमीमांसा पर वैदिक प्रमाणमीमांसा के प्रभाव को दर्शाता है। अकलंक द्वारा किये गये इस विभाजन के पीछे अन्य आचार्यों या सम्प्रदायों के बीच होनेवाले शास्त्रार्थ में आने वाली कठिनाइयाँ कही जा सकती हैं, क्योंकि व्यवहार में इन्द्रिय प्रत्यक्ष की ही प्रधानता है।

वैदिक परम्परा यज्ञ में विश्वास करती है। यज्ञ में दी जाने वाली बलि को यह हिंसा नहीं मानती है। लेकिन जैन मतावलम्बी इसे हिंसा कहते हैं। वर्ण-व्यवस्था के अनुसार क्षत्रिय का धर्म युद्ध करना है। युद्ध में निश्चित रूप से हिंसा होती है। कृष्ण ने स्वयं अर्जुन को युद्ध के लिए प्रेरित किया है। इन बातों से ऐसा लगता है कि वैदिक परम्परा में अहिंसा को कम महत्त्व दिया गया है। किन्तु 'महाभारत' में कई स्थलों पर अहिंसा की गरिमा को इस तरह प्रस्तुत किया गया है जिससे लगता है कि मानव जीवन में अहिंसा से बढ़कर कोई दूसरी चीज नहीं है। उदाहरणस्वरूप निम्नलिखित उक्तियाँ देखी जा सकती हैं-

'शान्तिपर्व' में कहा गया है- अहिंसा स्वत: एक धर्म है और हिंसा एक अधर्म है।[३] अहिंसा सबसे महान धर्म है, क्योंकि इससे सभी प्राणियों की रक्षा होती है।[४] 'अनुशासनपर्व' में कहा गया है- अहिंसा परम धर्म है, परमसत्ता है, परम सत्य है और अन्य धर्मों की उद्गमस्थली है। वह परम संशय, परम दान, परम फल, परम मित्र तथा परम सुख है। इतना ही नहीं यदि सभी यज्ञों में दान किया जाए, सभी तीर्थों में स्नान किया जाए, सब प्रकार के स्नानदान के फल प्राप्त हों तो भी अहिंसा धर्म से प्राप्त फल की तुलना में कम ही रहेंगे।[५]

वैदिक परम्परा में एक ओर तो यज्ञ तथा उसमें दी जाने वाली बलि को महत्त्व दिया जा रहा है, युद्ध को धर्मानुकूल भी बताया जा रहा है, तो दूसरी ओर अहिंसा की महिमा उच्च स्वर में गाई जा रही है। यज्ञ के फल से भी अहिंसा के फल को अधिक बताया जा रहा है। ऐसा क्यों? यहाँ तो निश्चित रूप से हिंसा पर अहिंसा का प्रभाव दिखाई पड़ रहा है। यह सोचने और समझने की बात है आखिर ऐसा हुआ कैसे? इस सम्बन्ध में अनुमान किया जा सकता है कि महाभारत काल की हिंसावादी धारा को अहिंसा की दिशा में प्रेरित करने वाले कोई और नहीं, बल्कि जैन धर्म के २२वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि थे। अरिष्टनेमि कृष्ण के चचेरे भाई थे। अहिंसा के महत्त्व को देखते हुए उन्होंने अपनी शादी ही नहीं बल्कि पूरी सांसारिकता को त्याग दिया और तपस्या करने के लिए पर्वत पर चले गए। कथा कुछ इस प्रकार है- अरिष्टनेमि जब विवाह के योग्य हुए तो सामान्य औपचारिकता के साथ शादी निश्चित की गई। पूरी तैयारी के साथ बारात कन्यापक्ष के दरवाजे पर पहुँची। वहाँ अनेक पशु-पक्षी बँधे हुए थे, जो क्रन्दन कर रहे थे। उन्हें देखकर अरिष्टनेमि ने उन सबके बँधे होने का कारण पूछा तो उत्तरस्वरूप लोगों ने बताया कि इन पशु-पक्षियों को मारकर बारातियों को भोजन कराया जाएगा। उस निर्दयतापूर्ण कार्य को सोचकर अरिष्टनेमि का दिल दहल गया, करुणा प्रवाहित हो चली। उस अमानुषिक कार्य को रोकने के लिए उन्होंने अपनी शादी का विचार त्याद दिया और संन्यास धारण कर अहिंसा का मार्ग अपनाते हुए तपस्या हेतु पर्वत पर चले गये। यह सुनकर उनकी होने वाली पत्नी ने भी संन्यास ले लिया। तपस्या पूरी होने पर अरिष्टनेमि जैन धर्म के बाइसवें तीर्थंकर के रूप में प्रतिष्ठित हुए तथा अहिंसा के आलोक से समाज को प्रकाशित किया। उनके प्रयास एवं प्रभाव से वैदिक परम्परा के बहुत से आचार्यों ने भी अहिंसा के मार्ग को अपनाया। सम्भवत: यही कारण है कि 'महाभारत' में यज्ञ ही नहीं, बल्कि अहिंसा का महत्त्व भी सामने आता है।

श्रमण परम्परा की दूसरी शाखा बौद्ध दर्शन का भी वैदिक दर्शन पर प्रभाव दिखाई देता है। बौद्ध दर्शन में प्रतिपादित शून्यवाद में 'शून्य' शब्द को अभाव, अनिर्वचनीयता आदि अर्थों में लिया गया है। कुछ विद्वान् 'शून्य' का विवेचन अभाव के सन्दर्भ में करते हैं। 'छान्दोग्योपनिषद्' का यह उद्धरण **'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत।'**[६] उस सिद्धान्त की ओर संकेत करता है जहाँ से 'शून्यवाद' या 'असत्वाद' का प्रस्फुटन होता है। शंकराचार्य ने भी अपनी टीका में इस अवतरण का संकेत (बौद्ध सिद्धान्त) जो सृष्टि के आरम्भ में एकमात्र 'सदभाव' की सत्ता को स्वीकार करता है, की ओर किया है। जो लोग शून्य का विवेचन

'अनिवर्चनीयता' के सन्दर्भ में करते हैं उनका कहना है कि शून्य का मतलब अभाव नहीं है। परमतत्त्व शून्य है, ऐसा कहने का तात्पर्य परमतत्त्व का अभाव नहीं है, बल्कि शून्य शब्द का व्यवहार अनिवर्चनीयता के लिए हुआ है। परमतत्त्व सत्, असत्, सत्-असत्, न सत्-न असत् किसी भी कोटि में नहीं आता है। इसका कोई वर्णन नहीं हो सकता है। यही बात शंकराचार्य ने अपने अद्वैतवाद में कही है। ब्रह्म भी सत्, असत्, सत्-असत्, न सत्-न असत् किसी कोटि में नहीं आता है। वह सत्-असत् विलक्षण है।[७] विलक्षण होने से उसका किसी प्रकार से वर्णन नहीं किया सकता है। अत: अनिवर्चनीय है। इसी आधार पर शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहा जाता है। डॉ० राधाकृष्णन् कहते हैं कि कतिपय व्यक्तियों के लिए इस (शून्य) का अर्थ अभावात्मक है और अन्यों के लिए यह एक स्थिर, इन्द्रियातीत और अव्याख्येय तत्त्व है जो सब वस्तुओं के अन्दर आधार रूप में विद्यमान है।[८] इसी प्रकार बौद्ध दर्शन के अनात्मवाद को 'कठोपनिषद्' के इस **'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।'**[९] उद्धरण में गर्भावस्था रूप में देखा जा सकता है।

इन तथ्यों के अतिरिक्त आपसी आदान-प्रदान की एक और बात सामने आती है। प्रारम्भ में श्रमण परम्परानुयायियों ने वैदिक यज्ञ, पूजा-पाठ आदि कर्मकाण्डों का विरोध किया, लेकिन बहुत दिनों तक वे पूजा-पाठ से अपने को वंचित नहीं रख सके। वे लोग धीरे-धीरे पूजा-पाठ के पक्षधर बन गये। फलस्वरूप जैन मतावलम्बियों ने भगवान ऋषभदेव, भगवान पार्श्वनाथ, भगवान महावीर आदि तीर्थंकरों की पूजा शुरू कर दी तथा बौद्ध धर्म में भगवान बुद्ध की मूर्ति की पूजा होने लगी। आज भी बौद्ध एवं जैन मन्दिरों में मूर्तियों की पूजा होती है। जैन परम्परा में तो एक शाखा ही है जिसे मूर्तिपूजक कहते हैं। उस शाखा के लोग विधिवत पूजन-अर्चन करते हैं। जिस प्रकार वैदिक परम्परा में मूर्तिपूजा होती है ठीक उसी तरह वे लोग भी अपने इष्ट देवी-देवताओं की पूजा अर्चना करते हैं। यहाँ यज्ञ के अनुष्ठान में प्रयुक्त 'स्वाहा' शब्द का उच्चारण भी वे करते हैं, यद्यपि उनके पूजन में अग्नि का व्यवहार नहीं होता है। पूजन की जो भी प्रक्रिया श्रमण परम्परा में अपनाई गई है वह वैदिक परम्परा के प्रभाव के कारण है। इस तरह वैदिक तथा श्रमण परम्पराएँ प्राचीन काल से एक-दूसरे को प्रभावित करती रही हैं जिससे इन दोनों की पारस्परिकता के प्रमाण मिलते हैं।

ऊपर्युक्त उद्धरणों से यह तो स्पष्ट है प्राचीन काल में वैदिक और श्रमण दर्शनों के जो भी विरोधात्मक प्रारूप रहे हों लेकिन वर्तमान सन्दर्भ में दोनों में पारस्परिक सम्बन्ध हैं। दोनों धर्म एक-दूसरे के समन्वय से बने हैं इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता।

सन्दर्भ :

१. अनन्तधर्मकं वस्तु। **षड्दर्शनसमुच्चय**, ५५

२. अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तो निर्हितो गुहायाम् ।
तमः क्रतुः पश्यति वीतशोको धातः प्रसादान्महिमानमात्मनः ।। **कठोपनिषद्**, १/३/२०

३. अहिंसा सकलो धर्मो हिंसाधर्मस्तथाहितः । **महाभारत**, शान्तिपर्व, २७२/२०

४. न भूतानामहिंसाया ज्यायान् धर्मोऽस्तिः कश्चन ।
यस्मान्नोद्विजते भूतं जातु किंचित् कथंचन ।
सोऽभयं सर्वभूतेभ्यः सम्प्राप्नोति महामुने ।। वही, २६२/३०

५. अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परं तपः।
अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते।।
अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परो दमः।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः।।
अहिंसा परमो यज्ञस्तथाहिंसा परन फलम् ।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम् ।
सर्वयज्ञेषु वा दानं सर्वतीर्थेषु वाऽऽप्लुतम् ।
सर्वदानफलं वापि नैतत् तुल्यमहिंसया ।। वही, **अनुशासनपर्व**, ११५/२३, ११६/२८-३०

६. **छान्दोग्योपनिषद्**, ६/२/१

७. **विवेकचूड़ामणि**, शंकराचार्य, १११

८. राधाकृष्णन् , डॉ० सर्वपल्ली, **भारतीय दर्शन**, भाग-१, पृ० ६०८

९. **कठोपनिषद्**, १/१/२०

*

श्रमण, वर्ष ५८, अंक २-३
अप्रैल-सितम्बर २००७

बौद्ध एवं जैन दर्शन में व्याप्ति-विमर्श

डॉ० राघवेन्द्र पाण्डेय*

व्याप्ति शब्द 'वि' और 'आप्ति' के योग से बना है जिसका अर्थ होता है- विशेष प्रकार से सम्बन्ध। दो वस्तुओं का सर्वदा नियत रूप से एक साथ रहना ही विशेष सम्बन्ध है।[1] दरबारी लाल कोठिया[2] का भी मानना है कि तर्कशास्त्र में विशेष सम्बन्ध उन दो पदार्थों के नियत साहचर्य को कहा गया है जिनमें गम्यगमकभाव या साध्यसाधनभाव होता है। लिङ्ग-लिङ्गी या साधन-साध्य में गमक-गम्यभाव या साधन-साध्यभाव का प्रयोजक सम्बन्ध ही विशेष सम्बन्ध है। अनुमान की प्रक्रिया मूलत: जिन दो प्रमुख तत्त्वों पर आधारित है उनमें एक व्याप्ति है और दूसरा पक्षधर्मता। पक्षधर्मता का बोध होने पर भी व्याप्ति का ज्ञान होना आवश्यक है। बिना व्याप्ति ज्ञान के अनुमान का बोध असम्भव है।

व्याप्ति सम्बन्ध अविच्छेद एवं अनिवार्य होता है। सामान्यतया व्यापकता को व्याप्ति कहते हैं और यह दो वस्तुओं के बीच अनिवार्य पारस्परिक सम्बन्ध का बोध कराता है। इनमें से एक व्यापक होता है और दूसरा व्याप्य होता है। जिसकी व्याप्ति होती है वह व्यापक और जिसमें व्याप्ति रहती है वह व्याप्य कहलाता है। अग्नि और धूम में अग्नि व्यापक है तथा धूम व्याप्य है। व्याप्य कभी भी व्यापक के बाहर नहीं रह सकता है, जबकि व्यापक के लिए ऐसा प्रतिबन्ध नहीं है। यथा- धूम अग्नि के अन्तर्गत है, किन्तु अग्नि धूम के अन्तर्गत नहीं है।

व्याप्ति के लिए दो वस्तुओं का साहचर्य होना आवश्यक है लेकिन इस साहचर्य सम्बन्ध को नियत होना चाहिए। अनियत साहचर्य सम्बन्ध वास्तविक व्याप्ति सम्बन्ध नहीं हो सकता है। व्याप्ति सम्बन्ध में व्यतिक्रम या अनियमितता नहीं होनी चाहिए। इसलिए व्याप्ति सम्बन्ध को नियत साहचर्य सम्बन्ध या ऐकान्तिक सम्बन्ध या अव्यभिचरित सम्बन्ध कहा गया है। **'नियत-साहचर्य सम्बन्धः व्याप्तिः, ऐकान्तिक-सम्बन्धः व्याप्तिः, अव्यभिचरित सम्बन्धः व्याप्तिः।'** जैन दर्शन में व्याप्ति सम्बन्ध को अविनाभाव के रूप में परिभाषित किया गया है। सिद्धसेन, विद्यानन्द, अकलङ्क आदि दार्शनिक साध्य एवं हेतु के अविनाभाव नियम को व्याप्ति

* पूर्व शोध छात्र, दर्शन एवं धर्म विभाग, बी०एच०यू०, वाराणसी

के रूप में स्वीकार करते हैं। अविनाभाव के लिए त्रैकालिक अनिवार्यता अपेक्षित है। अनिवार्यता की त्रैकालिकता का बोध हुए बिना अविनाभाव का नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता।[३] हेतु साध्य के अभाव में निश्चित रूप से नहीं रहता है, अर्थात् हेतु एवं साध्य के बीच ऐसा अव्यभिचरित सम्बन्ध है कि जिससे हेतु साध्य का गमक होता है, उनके मध्य रहा हुआ अव्यभिचरित सम्बन्ध या अविनाभाव नियम ही अकलङ्क आदि के मत में व्याप्ति का स्वरूप माना जा सकता है।[४] नियत साहचर्य सम्बन्ध या ऐकान्तिक सम्बन्ध के द्वारा भावात्मक रूप में व्याप्ति सम्बन्ध को प्रदर्शित किया जाता है तथा अव्यभिचरित सम्बन्ध या अविनाभाव के द्वारा व्याप्ति सम्बन्ध को निषेधात्मक रूप में अभिव्यक्त किया जाता है। व्याप्ति में नियत साहचर्य सम्बन्ध के लिए दो वस्तुओं के बीच सम्बन्ध का अनौपाधिक होना आवश्यक है- **'अनौपाधिक-सम्बन्धः व्याप्तिः।'**

जिन वस्तुओं का साहचर्य नियत न हो, उनमें व्याप्ति नहीं हो सकती। जैसे- मेघ और वर्षा कभी साथ-साथ दिखाई देते हैं और कभी अलग-अलग। जहाँ तक वर्षा का सवाल है, वह तो एकनिष्ठ रूप से मेघ से अटूट है किन्तु बादल हमेशा ही वर्षा नहीं करता, अतः उसका सम्बन्ध वर्षा से अनियत है।

व्याप्ति के पर्याय के रूप में अनेक शब्दों का प्रयोग किया गया है। भिन्न-भिन्न विचारकों ने व्याप्ति के लिए भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग भी किया है, यथा- लिंगलिंगि-सम्बन्ध, गम्यगमकभाव, साध्यसाधनभाव, अविनाभावनियम, प्रसिद्धि (कणाद), प्रतिबन्ध (सांख्य-योग), साध्याविनाभाव (जयन्त) नान्तरीयक (शंकर), अन्यथानुपपत्ति, अन्यथानुपपन्नत्व (जैन) आदि।[५] परन्तु इन शब्दों की अपेक्षा व्याप्ति शब्द ही अधिक प्रचलित है।

चार्वाक के अतिरिक्त प्रायः सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों ने व्याप्ति को स्वीकार किया है। तथापि उनमें व्याप्ति के स्वरूप के सम्बन्ध में तथा इसको प्रतिष्ठित करने के साधन के सम्बन्ध में मतभेद अवश्य हैं। चूँकि चार्वाक प्रत्यक्षवादी है, अतः उसके अनुसार एक मात्र प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। अनुमानादि से प्राप्त ज्ञान प्रामाणिक नहीं हैं। अतएव चार्वाकों के लिए व्याप्ति स्थापन अप्रासंगिक है। सांख्य दर्शन की मान्यता है कि साध्य के साथ साध्य-साधन दोनों का अथवा साधन मात्र का जो नियत व्यभिचारशून्य साहचर्य है उसी को व्याप्ति कहते हैं।[६] 'योगसूत्र' में व्याप्ति का उल्लेख नहीं मिलता है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि भाष्यकार व्यास ने सम्बन्ध के रूप में व्याप्ति की चर्चा की है।[७] उनके मतानुसार 'जो अनुमेय के साथ समान जातीय पदार्थों में अनुवृत्त (युक्त) एवं भिन्न जातीय पदार्थों से व्यावृत्त (पृथक् करने

वाला) हो, उसे सम्बन्ध कहा जाता है।[८] परन्तु यहाँ सम्बन्ध का अर्थ व्याप्ति मानना संगत नहीं होगा।[९] वेदान्तियों का मत है कि व्याप्ति की स्थापना अतीत अव्यभिचारी साहचर्य के अनुभव पर अवलम्बित है। अतीत में यदि दो वस्तुओं का साहचर्य देखा जाय, अर्थात् बराबर उन्हे एक साथ देखा जाय तो दोनों में व्याप्ति का सम्बन्ध अवश्य मानना चाहिए। **'व्यभिचार दर्शनम् सति सहचार दर्शनम्'** अर्थात् यदि दो वस्तुओं को बराबर एक साथ देखें और उनका व्यभिचार (अपवाद) देखने में नहीं आये तो दोनों में साहचर्य का सम्बन्ध मानना चाहिए। नैयायिकों का भी वेदान्तियों के समान ही मत है कि व्याप्ति की स्थापना साहचर्य अनुभव पर आधारित है,[१०] जिसका अतीत में कोई व्यतिक्रम नहीं हो। न्याय व्याप्ति स्थापना के लिए अन्वय-व्यतिरेक प्रणाली की सहायता लेता है। किसी भी व्यभिचार की अनुपस्थिति व्याप्ति निश्चय में सहायक है। लेकिन नियत सम्बन्ध की पुष्टि के लिए व्याप्ति का अनौपाधिक अर्थात् उपाधिविहिन होना आवश्यक है। इन सभी की पुष्टि के लिए नैयायिक तर्क का सहारा लेते हैं। अत: नैयायिकों की व्याप्ति स्थापना के लिए अन्वय, व्यतिरेक, व्यभिचाराग्रह, उपाधिनिरास एवं तर्क-प्रणाली व्याप्ति सम्बन्ध को पुष्टि प्रदान करते हैं। नव्य-नैयायिक गंगेश ने व्याप्ति विषयक इक्कीस मतों का पूर्वपक्षीय व्याप्ति लक्षणों के रूप में उल्लेख किया है। उन्होंने व्याप्ति स्थापनार्थ, व्याप्तिपंचक, सिंहव्याघ्र एवं व्यधिकरण, जिसमें व्याप्ति पंचक में पांच, सिंहव्याघ्र में दो एवं व्यधिकरण में चौदह लक्षणों के माध्यम से व्याप्ति स्थापन का प्रयास किया है।[११] कणाद ने व्याप्ति के स्थापनार्थ 'प्रसिद्धि' शब्द का प्रयोग करते हुए कहा है कि जो हेतु प्रसिद्धि पूर्वक होता है वही सद्हेतु कहलाता है। प्रसिद्धि के अभाव में हेतु सद्हेतु न रहकर हेत्वाभास हो जाता है।[१२] अत: 'प्रसिद्धि' के ज्ञान के अभाव में लिंग के ज्ञान से अनुमिति होना सम्भव नहीं है। 'मीमांसासूत्र' मे व्याप्ति निरूपण् स्पष्टतया उपलब्ध नहीं होता है, किन्तु सबर स्वामी द्वारा अनुमान के लक्षण में **'ज्ञात सम्बन्धस्य'** पद का आवश्यक रूप से सन्निवेश किया गया है।[१३] 'मानमेयोदय' में नारायण भट्ट ने साध्य और साधन के स्वाभाविक सम्बन्ध को व्याप्ति कहा है।[१४] चित्रस्वामी के अनुसार नियम रूप सम्बन्ध ही व्याप्ति है। दृश्यमान् देश, काल आदि में जो हेतु का साध्य के साथ सहभाव परिलक्षित होता है, वह ही नियम है।[१५] प्रभाकर के मतानुसार व्याप्ति लक्षण का विवेचन करते हुए शालिकनाथ ने 'प्रकरणपञ्चिका' में लिखा है कि 'जिसका जिसके साथ अव्यभिचरित तथा नियत कार्य-कारण-भाव आदि सम्बन्ध हो वही सद्हेतु हो सकता है तथा इस प्रकार का नियत तथा अव्यभिचरित कार्य-कारण-भाव आदि सम्बन्ध ही व्याप्ति कहलाता है।[१६] इसी बात को अभिव्यक्त करने के लिए अनुमान लक्षण में **'ज्ञात सम्बन्ध नियमस्य'** पद का उपादान किया गया है।

बौद्ध व्याप्ति-विमर्श - बौद्ध व्याप्ति के लिए अविनाभाव शब्द का प्रयोग करते हैं। अविनाभाव का अर्थ है- अ+बिना+भाव अर्थात् साध्य के अभावीय स्थलों में हेतु की सत्ता का न होना। अविनाभाव के साथ-साथ स्वभाव-प्रतिबन्ध एवं अव्यभिचार नियम शब्दों का प्रयोग भी व्याप्ति के लिए हुआ है। साध्य के होने पर ही हेतु का सद्भाव होता है। अत: अविनाभाव व्यतिरेक व्याप्ति के साथ ही अन्वय व्याप्ति का भी बोधक है। **'ग्राह्यधर्मस्तद् अंशेन व्याप्तो हेतुः।'** 'प्रमाणसमुच्चय' में उल्लेखित दिङ्नाग के इस कथन में व्याप्ति सिद्धान्त निहित है जिसे आगे चलकर धर्मकीर्ति और धर्मोत्तर ने इसको स्पष्ट करते हुए कहा कि 'साध्य का साधन में नियतत्त्व व्यवस्थापन तथा साध्याभाव में साधनाभाव की नियतता का रहना ही अविनाभाव है।'[१७] साधर्म्य हेतु में साधन व्याप्य और साध्य व्यापक होता है जब कि वैधर्म्य हेतु में साध्याभाव व्याप्य और साधनाभाव व्यापक होता है। 'प्रमाणवार्तिक' में धर्मकीर्ति का कहना है कि अविनाभाव नियम से हेतु पक्षधर्म एवं उसके अंश में व्याप्त होता है। अविनाभाव नियम के अभाव में हेतु हेत्वाभास होता है।[१८] 'न्यायबिन्दु' में धर्मकीर्ति ने व्याप्ति को स्वभावप्रतिबन्ध शब्द से उल्लेखित किया है। धर्मकीर्ति का कहना है कि स्वभावप्रतिबन्ध (सत्ता-पारतन्त्र, स्वत: नियत सम्बन्ध) होने पर ही एक अर्थ दूसरे अर्थ को सूचित करता है।[१९] स्वभावप्रतिबन्ध का अर्थ है स्वभाव के द्वारा प्रतिबन्ध अर्थात् स्वभाव प्रतिबद्धता या प्रतिबद्ध स्वभावता। कारण अथवा स्वभाव के साध्य होने पर कार्य एवं स्वभाव दोनों में ही स्वभाव प्रतिबन्ध सदृश होता है। यहाँ प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि स्वभावप्रतिबन्ध किसका होता है? और किसमें होता है? अर्थात् कौन प्रतिबद्ध होता है और कौन प्रतिबन्ध का विषय बनता है? धर्मकीर्ति इस प्रश्न का समाधान करते हुए 'न्यायबिन्दु' में कहते हैं कि वह स्वभावप्रतिबन्ध हेतु का साध्य अर्थ में होता है।[२०] हेतु परायत्त होने के कारण प्रतिबद्ध होता है, किन्तु साध्य अर्थ परायत्त न होने के कारण प्रतिबन्ध का विषय है, प्रतिबद्ध का नहीं। अर्थात् तादात्म्य विशेष होने पर भी जो प्रतिबद्ध है वही ज्ञापक होता है, जो प्रतिबन्ध विषय है वह ज्ञाप्य होता है। क्योंकि उसके साथ अप्रतिबद्ध का उससे अव्यभिचार-नियम का अभाव है, अर्थात् प्रतिबन्ध न होने पर व्यभिचार का नियत अभाव नहीं होता है। जो स्वभाव से जिसके साथ प्रतिबद्ध नहीं है वह उस अप्रतिबन्ध के विषय के बिना नहीं होता, ऐसा उनका अव्यभिचार या अविनाभाव नियम नहीं हैं। अव्यभिचार नियम से ही गम्य-गमक भाव होता है। धर्मकीर्ति के तात्पर्य को धर्मोत्तर स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'लिङ्ग परायत्त (पराधीन) तथा साध्य अपरायत्त होने के कारण प्रतिबद्ध और अप्रतिबद्ध कहलाते हैं। जो प्रतिबद्ध होता है वह गमक तथा जो प्रतिबन्ध का विषय होता है वह गम्य कहलाता है। जो जहाँ स्वभावत: प्रतिबद्ध नहीं

होता, उसका अपने अप्रतिबद्ध विषय के साथ वहाँ अव्यभिचार नियम नहीं पाया जाता, किन्तु जो हेतु अप्रतिबद्ध नहीं होता, उसका अप्रतिबद्ध विषय के साथ कोई व्यभिचार न होने के कारण अव्यभिचार नियम पाया जाता है। इसी अव्यभिचार नियम को अविनाभाव कहा जाता है। व्याप्ति को हेतुबिन्दु में परिभाषित करते हुए धर्मकीर्ति कहते हैं कि 'व्यापक के होने पर ही व्याप्य का होना तथा व्याप्य के होने पर व्यापक का होना ही व्याप्ति है।'[२१] व्यापक का अर्थ है साध्य तथा व्याप्य का अर्थ है हेतु। इस प्रकार साध्य के होने पर हेतु का होना तथा हेतु के होने पर साध्य का होना ही व्याप्ति है। इन्ही दोनों धर्मो को अन्वय और व्यतिरेक कहा जाता है। इसकी व्याख्या करते हुए अर्चट का कहना है कि 'व्यापक धर्म के रूप में जिस धर्मी में व्याप्य विद्यमान है वहाँ सर्वत्र व्यापक का सद्भाव ही होगा। व्याप्ति में इसी को व्यापक धर्मता कहा जाता है। इसीलिए व्यापक की अपेक्षा से व्याप्य में व्यापकता की प्रतीति होती है। व्याप्य धर्म के रूप में जब व्याप्ति विवक्षित होती है तब व्यापक के होने पर ही व्याप्य का सद्भाव पाया जाता है। अर्थात् जिस धर्मी में व्यापक रहता है, उसी धर्मी में व्याप्य भी पाया जाता है, व्यापक के अभाव में नहीं।

बौद्ध दर्शन में व्याप्ति-निश्चय हेतु साधनों की चर्चा धर्मकीर्ति और उनके उत्तरवर्ती आचार्यों की कृतियों में स्पष्टत: पायी जाती है। धर्मकीर्ति के अनुसार व्याप्ति दो सम्बन्धों पर आधारित है- (१) तदुत्पत्ति सिद्धान्त (२) तादात्म्य सिद्धान्त। किसी हेतु की किसी साध्य के साथ व्याप्ति हैं, उसके ज्ञान के लिए साध्य और साधन के 'स्वभावप्रतिबन्ध' का ज्ञान होना चाहिए। स्वभावप्रतिबन्ध दो प्रकार का होता है- तादात्म्य लक्षण और तदुत्पत्ति लक्षण। धर्मकीर्ति का कहना है कि हेतु के सपक्ष में दर्शन और विपक्ष के अदर्शन मात्र से व्याप्ति की सिद्धि नहीं हो सकती। व्याप्ति का निश्चय तो हेतु और साध्य के बीच वर्तमान अविनाभाव सम्बन्ध से होता है।[२२] 'हेतुबिन्दुटीका' में उल्लेखित है कि साध्य अर्थ के साथ लिंग का स्वभाव-प्रतिबन्ध अथवा अविनाभाव दो कारणों से होता है, या तो लिंग का साध्य से तादात्म्य रहता है अथवा फिर साध्य से उसकी उत्पत्ति होती है। जिस लिङ्ग का साध्य के साथ तादात्म्य या तदुत्पत्ति सम्बन्ध नहीं होता है वह लिङ्ग साध्य का अविनाभावी नहीं होता है, यथा प्रमेयत्व हेतु अनियतत्त्व का अविनाभावी नहीं होता है, क्योंकि उसका अनियतत्त्व साध्य के साथ न तादात्म्य है और न तदुत्पत्ति।[२३] जहाँ हेतु साध्य के साथ तादात्म्य नहीं है अथवा हेतु साध्य से उत्पन्न (तदुत्पन्न) नहीं हुआ है वहाँ हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति नहीं होती। व्याप्ति के लिए आवश्यक है कि हेतु का साध्य के साथ तादात्म्य या तदुत्पत्ति सम्बन्ध हो। सहचार दर्शन मात्र से किसी हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति नहीं कही जा सकती।[२४]

तादात्म्य का अर्थ है- दो वस्तुओं में उसके सार गुण की एकता। तादात्म्य की व्याख्या करते हुए धर्मोत्तर ने लिखा है कि वह साध्य अर्थ जिसका आत्म स्वभाव होता है, वह तदात्मा और उसके भाव को तादात्म्य कहा जाता है।[२५] आशय यह है कि जो वस्तु किसी दूसरी वस्तु के आत्मस्वरूप होती है, वह उसके बिना कदापि नहीं रह सकती। इसलिए तादात्म्य सम्बन्ध को अविनाभाव का नियामक कहा जाता है। तादात्म्य सम्बन्ध उनमें होता है जो सहभावी होते हैं। जैसे- हेतु और साध्य। ये अस्तित्व की दृष्टि से अभिन्न होते हैं। जैसे- यह वृक्ष है क्योंकि यह अशोक है। इस वाक्य में वृक्ष साध्य है और अशोक हेतु। इसमें साध्य हेतु की सत्ता के अतिरिक्त किसी अन्य हेतु की अपेक्षा नहीं रखता इसलिए यह स्वभाव हेतु है। अशोकत्व और वृक्षत्व में नियत सहभाव है, इसलिए यह तादात्म्य मूलक अविनाभाव है।

व्याप्ति के तदुत्पत्ति सिद्धान्त की विवेचना करते हुए बौद्धाचार्यों ने कहा है कि साध्य अर्थ से जिस लिङ्ग की उत्पत्ति होती वह तदुत्पत्ति सम्बन्ध अर्थात् कार्य-कारण सम्बन्ध अविनाभाव का नियामक है। जैसे- 'पर्वत अग्निमान है, धूम होने से।' यहाँ साधन धूम साध्य अग्नि का कार्य है और अग्नि कारण। कारण के अभाव में कार्य की सत्ता नहीं होती, इसीलिए कारण अग्नि के अभाव में, कार्य धूम के कहीं भी न पाए जाने से, इन दोनों में *अविनाभाव सम्बन्ध का नियामक कार्य-कारण भाव* को माना जाता है।[२६] इस कार्य-कारण सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए बौद्धाचार्य पंचकारिणी-विधि[२७] का प्रयोग करते हैं -

१.	कार्य और कारण दोनों का अभाव	- धूम और अग्नि दोनों का अभाव होना।
२.	कारण का भाव होना	- अग्नि की सत्ता का ज्ञान होना।
३.	कार्य का भी भाव होना	- धूम की सत्ता का भी ज्ञान होना।
४.	कारण का अभाव होना	- अग्नि की सत्ता का अभाव होने पर।
५.	कार्य का अभाव होना	- धूम की सत्ता का भी अभाव हो जाना।

बौद्धाचार्य व्याप्ति स्थापन के लिए तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति सिद्धान्त के अतिरिक्त किसी अन्य को अविनाभाव का नियामक स्वीकार नहीं करते हैं। अर्चट ने भी कहा है कि तादात्म्य और तदुत्पत्ति के साथ अविनाभाव और अविनाभाव के साथ वे दोनों व्याप्त हैं। जिनमें न तादात्म्य है और न तदुत्पत्ति उनमें अविनाभाव भी नहीं होता है।[२८] दरबारी लाल कोठिया का कहना है कि पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर आदि कितने ही ऐसे हेतु हैं जिनमें न तादात्म्य है और न तदुत्पत्ति, फिर भी उनमें अविनाभाव रहता है तथा अविनाभाव रहने से उन्हें गमक स्वीकार किया गया है।

यथा- **श्वः सवितोदेता अद्यतनसवितुरूदयात्, शकटं उदेष्यति कृत्तिकोदयात्, उद्गाद्धरणिः कृत्तिकोदयात्, रससमानकालं रूपं जातं रसात्, चन्द्रोदयो जातः समुद्रवृद्धेः** इत्यादि हेतुओं में न तादात्म्य है और न कार्य कारणभाव।[२९] बौद्ध नैयायिक पंचकारणी के द्वारा कार्यकारणभाव का निश्चय करते हैं और कार्य-कारण-भाव के निश्चय से अविनाभाव का निश्चय होता है। परन्तु यहाँ अविनाभाव को कार्यकारणभाव और तादात्म्य दोनों में ही नियंत्रित कर उसके व्यापक स्वरूप एवं क्षेत्र को संकुचित बना दिया गया है।

व्याप्ति-भेद पर विचार करें तो भारतीय तर्कविद्या में कई प्रकार के वर्गीकरण उपलब्ध होते हैं। परन्तु बौद्धों ने व्याप्ति के सामान्य-विशेष रूप को स्वीकार किया है। जब दो सामान्य पदार्थों में व्याप्ति उपलब्ध हो, तो उसे सामान्य व्याप्ति तथा विशेष पदार्थों में व्याप्ति गृहीत होने पर उसे विशेष व्याप्ति कहा जाता है।[३०] बौद्धों के मतानुसार व्याप्ति सामान्य विषयों में ही हो सकती है, विशेष विषयों में नहीं।[३१] किन्तु यह मत एकांगी होने से न्यायसंगत नहीं जान पड़ता है। नैयायिक एवं मीमांसक बौद्धों के इस अभ्युपगम को सारहीन बताते हुए विशेष पदार्थों में भी व्याप्ति ग्रहण सिद्ध किया है। कालान्तर में बौद्ध दर्शन में भी न्याय एवं मीमांसा सम्मत अन्वय व्यतिरेक व्याप्ति को स्वीकार किया गया हैं। धर्मकीर्ति एवं उनके टीकाकार धर्मोत्तर, अर्चट, कर्णकगोमि, मनोरथनन्दी ने भी अन्वय-व्यतिरेक व्याप्ति का उल्लेख किया है।[३२] साध्य-साधन के भावात्मक रूप को अन्वय व्याप्ति और उसके अभावात्मक रूप को व्यतिरेक व्याप्ति कहा गया है।

जैन व्याप्ति-विमर्श- अन्य तार्किकों के समान ही जैनाचार्य भी अनुमान का मुख्य आधार व्याप्ति को मानते हैं। दो वस्तुओं में सर्वदा नियतरूप से सहचार सम्बन्ध स्वीकार किए बिना एक के ज्ञान से दूसरे का ज्ञान नहीं हो सकता। व्याप्ति का जो स्वरूप प्राचीन न्याय-वैशेषिक एवं बौद्धाचार्य निरूपित करते हैं वही स्वरूप जैन दर्शन में भी प्रतिपादित है। जैन दार्शनिकों ने व्याप्ति को अविनाभाव नियम एवं अन्यथानुपपत्ति के रूप में अभिव्यक्त किया है।

जैन दर्शन में व्याप्ति का प्रतिपादन माणिक्यनन्दी से पूर्व स्पष्ट रूप से नहीं प्राप्त होता है। सिद्धसेन, अकलङ्क, विद्यानन्द आदि दार्शनिकों के हेतु लक्षण का अध्ययन करने से विदित होता है कि वे साध्य एवं हेतु के अविनाभाव नियम को ही व्याप्ति मानते हैं। व्याप्ति ज्ञान को परिभाषित करते हुए माणिक्यनन्दी[३३] कहते हैं कि 'इस वस्तु के रहने पर यह वस्तु रहती है और इसके नहीं रहने पर नहीं रहती है। अर्थात् साध्य के होने पर ही हेतु का होना तथा साध्याभाव में हेतु का न होना

ही व्याप्ति है। यथा-अग्नि के होने पर ही धूम होता है, उसके अभाव में धूम निश्चित रूप से होता ही नही है।' माणिक्यनन्दी के अनुसार ही सहभाव नियम एवं क्रमभाव नियम अविनाभाव है। सहचारी और व्याप्य-व्यापक भूत पदार्थों में सहभाव-नियम तथा पूर्वचर, उत्तरचर और कार्यकारणभूत पदार्थों में क्रमभाव नियम पाया जाता है।[३४] इसकी व्याख्या करते हुए अनन्तवीर्य ने लिखा है कि सहचारी रूप, रस आदि में तथा वृक्षत्व, शिंशपात्व आदि व्याप्य-व्यापकभाव वाले पदार्थों में सहभाव नियम पाया जाता है।[३५] जैसे- संतरा रूप वाला रस होने से। यहाँ जहाँ-जहाँ रस होता है वहाँ-वहाँ रूप भी होता है। ऐसी व्याप्ति बनाई जा सकती है, क्योंकि हेतु 'रस' साध्य 'रूप' के अभाव में कहीं भी नहीं पाया जाता। इसके विपरीत यदि संतरा रस वाला है, रूप होने से इस अनुमान का उत्थापन किया जाय तो अनुमान यथार्थ नहीं होगा, क्योंकि हेतु रूप साध्य रस के अभाव वाले पदार्थ तेज अग्नि रूप में भी पाये जाते हैं। अत: जहाँ-जहाँ रस रहता है वहाँ-वहाँ रूप भी रहता है। इस प्रकार सहचारियों का ज्ञापन करना ही सहभाव नियम हैं। 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' में वादिदेवसूरि ने 'साध्य एवं साधन के त्रैकालिक सम्बन्ध को व्याप्ति कहा है।'[३६] अर्थात् दो वस्तुओं के बीच का वह सम्बन्ध जो भूत, वर्तमान एवं भविष्य में सदैव विद्यमान रहे और उसका बाध न हो। 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' की अँग्रेजी व्याख्या में डॉ० हरिसत्य भट्टाचार्य[३७] का कहना है कि The Subject-matter or the content of Induction is the relationship which subsists between two things or phenomena and which relationship continues to be true in all the three times, i.e., past, present and future. इस प्रकार व्याप्ति के लिए त्रैकालिकता का होना अनिवार्य है। अनिवार्यता की त्रैकालिकता का बोध हुए बिना अविनाभाव का नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता। नैयायिक मानते हैं कि भूयो-दर्शन से अविनाभाव का बोध होता है। बार-बार दो वस्तुओं का साहचर्य देखते हैं, तब उस साहचर्य के आधार पर नियम का निर्धारण कर लिया जाता है। परन्तु नियम का आधार सिर्फ साहचर्य ही नहीं अपितु व्यभिचार भी होना चाहिए। अत: व्याप्ति के लिए दो विषयों का ज्ञान आवश्यक है- साहचर्य का ज्ञान तथा व्यभिचार ज्ञान का अभाव।[३८] अत: मात्र भूयो दर्शन से भूत, वर्तमान एवं भविष्य के पदार्थों का व्याप्ति ज्ञान सम्भव नहीं है।

आचार्य हेमचन्द्र व्याप्ति विवेचना में बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति का अनुसरण करते हुए कहते हैं कि 'व्याप्य के होने पर व्यापक का होना तथा व्यापक के होने पर व्याप्य का होना व्याप्ति है।[३९] अर्थात् हेतु के होने पर साध्य का निश्चित रूप से होना तथा साध्य के होने पर ही हेतु का होना व्याप्ति है। 'हेतुबिन्दुविवरण' में अर्चट ने व्याप्ति को संयोग की तरह एकरूप सम्बन्ध नहीं अपितु व्यापक धर्म और व्याप्यधर्म रूप

से भिन्न स्वरूप बतलाया है और कहा है कि अपनी विशिष्ट व्याप्ति के कारण व्याप्य ही गमक होता है तथा अपनी विशिष्ट व्याप्ति के कारण व्यापक ही गम्य होता है।[४०] परन्तु अर्चट ने जिस व्यापकधर्मरूप व्याप्ति को गमकत्वनियामक कहा है उसे गङ्गेश व्याप्ति नहीं मानते हैं। गङ्गेश[४१] का मानना है कि वह व्यापकत्व मात्र है और तथाविध व्यापक का सामानाधिकरण्य ही व्याप्ति है- **'तेन समं तस्य सामानाधिकरण्यं व्याप्तिः।'**

जैनाचार्य रत्नप्रभ ने गम्य-गमक रूप साध्य-साधन के अविनाभाव सम्बन्ध को व्याप्ति कहा है।[४२] इन्हीं का समर्थन करते हुए धर्मभूषण ने साध्य और साधन में गम्य-गमक-भाव को साधक एवं व्यभिचार के गन्ध से रहित जो सम्बन्ध विशेष है, उसे व्याप्ति अर्थात् अविनाभाव कहा है।[४३] सहभाव एवं क्रमभाव नियम को प्रशस्तपाद द्वारा दैशिक व्याप्ति एवं कालिक व्याप्ति के रूप में किये गये निरूपण को ही ध्यान में रखकर सम्भवत: रत्नप्रभ ने गम्य-गमक भाव को ही अविनाभाव कहा और इसी में 'व्यभिचार शून्यता' शब्द जोड़कर धर्मभूषण ने अपने व्याप्ति लक्षण की विवेचना की।

जहाँ तक व्याप्ति की ग्राहकता का प्रश्न है तो जैन दर्शन में तर्क को एक मात्र व्याप्ति ग्राहक का साधन माना गया है। जैन परम्परा में तर्क के स्वरूप और विषय को स्थिर करने का श्रेय अकलङ्क को जाता है। अकलङ्क ने ही सर्वप्रथम तर्क को व्याप्ति ग्राहक रूप में समर्थित किया और उसका सबलता के साथ स्थापन किया। उन्होंने प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ से होने वाले सम्भावनात्मक ज्ञान को तर्क कहा है।[४४] 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' में तर्क का लक्षण इस प्रकार से व्यक्त किया गया है- 'साध्य और साधन के सम्बन्ध विषयक अज्ञान को निरस्त करने का जो साधकतम उपाय है उसे ही तर्क कहा जाता है।'[४५] माणिक्यनन्दी ने उपलम्भ और अनुपलम्भ के निमित्त से जो व्याप्ति ज्ञान होता है उसे तर्क कहा है।[४६] जैसे- 'अग्नि के होने पर ही धूम का होना' इस उपलम्भ तथा 'अग्नि के अभाव में धूम का कदापि न होना' इस अनुपलम्भ का कारण व्याप्ति को सर्वोपसंहार रूप से जानना ही तर्क है। तात्पर्य यह है कि जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि भी होती है और जहाँ अग्नि नही होती वहाँ धूम भी नहीं होता। इस प्रकार के उपलम्भमूलक व्याप्ति सम्बन्ध को अर्थात् सर्वकालिक, सर्वदेशिक तथा सर्वव्यक्तिक अविनाभाव सम्बन्ध को सर्वोपसंहार रूप से ग्रहण करना ही तर्क है। प्रत्यक्ष से गृहीत साध्य एवं साधन ही नहीं, अपितु अनुमान और आगम के विषयभूत पदार्थों में भी अविनाभाव का निश्चय तर्क द्वारा होता है। वादिदेवसूरि ने 'प्रमाणनयतत्त्वालोक'[४७] में तर्क-लक्षण में उपलम्भ और अनुपलम्भ से उत्पन्न होनेवाला तथा भूत, वर्तमान एवं भविष्य त्रैकालिक साध्य-साधन विषयक सम्बन्ध

को ग्रहण करने वाला 'जो यह पदार्थ इस पदार्थ के होने से ही होता हैं' इत्यादि आकार वाले ज्ञान को ऊह या तर्क प्रतिपादित किया हैं। जैसे- लोक में जितने भी धूम होते हैं वे सभी अग्नि के होने के कारण ही होते हैं, न होने से नहीं। उन सभी बातों को तर्क द्वारा समाविष्ट कर लिया जाता है।[४८]

इस प्रकार हम देखते है कि जैनाचार्यो ने तर्क को व्याप्ति का ग्राहक अथवा निश्चायक अंगीकार किया है। प्रत्यक्ष, अनुमान आदि किसी अन्य ज्ञान को वे व्याप्ति ग्राहक नहीं मानते हैं। प्रत्यक्ष द्वारा भूयोदर्शन होने पर भी त्रैकालिक व्याप्ति सम्भव नहीं है, प्रत्यक्ष द्वारा तो तात्कालिक समय में विद्यमान पदार्थों के सम्बन्ध का ज्ञान होता है, भूत एवं भविष्य के पदार्थों की व्याप्ति का ज्ञान 'तर्क' द्वारा ही सम्भव है। इस प्रकार जैनाचार्यों ने तर्क को व्याप्ति का ग्राहक प्रतिपादित करने के साथ ही उसे स्वतंत्र प्रमाण के रूप में भी स्वीकार किया है।

भारतीय तर्क-विद्या में व्याप्ति के अनेक भेद-प्रभेद मिलते हैं, परन्तु जैन तार्किकों ने व्याप्ति-भेद के रूप में प्रमुखतया अन्त:व्याप्ति, बहिर्व्याप्ति, साकल्य व्याप्ति, तथोत्पत्ति, अन्यथानुपपति एवं सह-क्रम व्याप्ति को स्वीकार किया है। जैनाचार्यों के अनुसार जब पक्ष में व्याप्य-व्यापक-भाव को नियत रूप से ग्रहण किया जाता है तो उसे अन्तर्व्याप्ति कहते हैं। जैसे- पर्वतो वह्निमान् धूमात् महानसवत्। इस अनुमान में पर्वत में ही धूम और अग्नि की व्याप्ति का ग्रहण करके अनुमान किया जाय तो वह अन्तर्व्याप्ति कहलाती है। जहाँ पर सपक्ष में व्याप्ति का ग्रहण किया जाता है उसे बहिर्व्याप्ति कहते हैं और जहाँ पर पक्ष और सपक्ष दोनों में व्याप्ति गृहीत करके अनुमान किया जाय उसे साकल्य व्याप्ति कहते हैं। व्याप्ति-भेद को स्पष्ट करते हुए वादिदेवसूरि कहते हैं कि 'पक्ष में ही साधन का साध्य के साथ व्याप्ति होना अन्तर्व्याप्ति और पक्ष के बाहर व्याप्ति होना बहिर्व्याप्ति है। जैसे- वस्तु अनेकान्त रूप है, क्योंकि वह सत् है और यह स्थल अग्निवाला है, क्योंकि धूमवान है, जो धूमवान होता है वह अग्निवाला होता है, जैसे- पाकशाला।[४९] वस्तु अनेकान्त रूप होने के कारण सत् है। यहाँ सत्व हेतु की 'अनेकान्तरूप' इस साध्य के साथ व्याप्ति अन्तर्व्याप्ति है, क्योंकि यह पक्ष में ही हो सकती है बाहर नहीं। दूसरे उदाहरण में 'यह स्थल' पक्ष है और 'धूम तथा अग्नि की व्याप्ति' उस स्थान से बाहर सपक्ष (पाकशाला) में बताई गई हैं, अतएव यह बहिर्व्याप्ति है।

व्याप्ति के अन्य भेद में माणिक्यनन्दी ने 'परीक्षामुख' तथा हेमचन्द्र ने 'प्रमाणमीमांसा' में तथोपपत्ति तथा अन्यथानुपपत्ति नाम से व्याप्ति के दो भेदों का उल्लेख किया है।[५०] साध्य के होने पर ही साधन का होना तथोपपत्ति है और साध्य

के न होने पर साधन का न होना अन्यथानुपपत्ति है। यथा- वह्नि के होने पर ही धूम का होना और वह्नि के न होने पर धूम का न होना।[५१] एक अन्य भेद में सहभावनियम एवं क्रमभावनियम का नाम आता है। माणिक्यनन्दी ने व्याप्ति के दो रूपों सहभावनियम एवं क्रमभावनियम का वर्णन किया है।[५२] दो सहचारी पदार्थों एवं व्याप्य-व्यापक पदार्थों में सहभाव अविनाभाव होता है।[५३] जो सहचारी और व्याप्य-व्यापक होते हैं। उनमें सहभावनियम अविनाभाव रहता है।[५४] जैसे- रूप और रस दोनों सहचारी हैं- रूप के साथ रस और रस के साथ रूप नियम से रहते हैं। अतः दोनों सहचारी हैं। इसलिए उनमें सहभावनियम अविनाभाव है। इस अविनाभाव से स्वभाव, व्याप्य एवं सहचर हेतु साध्य के गमक होते हैं। पूर्वचर, उत्तरचर, कार्य एवं कारण हेतुओं में क्रमभाव अविनाभाव होता है।[५५] जो पूर्वोत्तरचारी और कार्य-कारण होते हैं उनमें क्रमभावनियम अविनाभाव होता है। जैसे- कृतिका का उदय और शकट का उदय। कृतिका का उदय पूर्वचर और शकट का उदय एक मुहूर्त्त बाद होता है। दोनों में क्रमभावनियम अविनाभाव है। इसी से कृतिका के उदय से शकटोदय का अनुमान होता है। इन दो प्रकार के अविनाभाव से समस्त हेतु साध्य के गमक सिद्ध हो जाते हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि अनुमान के आवश्यक अंग के रूप में बौद्ध एवं जैन दोनों ही दर्शनों में व्याप्ति को स्वीकार किया गया है। दोनों ही अविनाभाव नियम को व्याप्ति स्वीकार करते हैं। परन्तु व्याप्ति ग्रहणता में जहाँ बौद्ध दार्शनिकों ने तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति को आत्मसात कर यह बताने का प्रयास किया है कि जिससे जिसकी उत्पत्ति होती है उसमें उसका अव्यभिचार होता है और जिसमें जिसका तादात्म्य होता है उसमें भी उसका अव्यभिचार होता है। इसके विपरीत जैनाचार्यों ने इन दोनों सम्बन्धों से व्याप्ति होने को अस्वीकार किया है। उनका मानना है कि पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर आदि ऐसे अनेक हेतु हैं जिनमें साध्य के साथ न तादात्म्य है और न तदुत्पत्ति, तथापि साध्य के साथ व्याप्ति होती है। वादिदेवसूरि ने 'स्याद्वादरत्नाकर' में तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति को अपर्याप्त हीं नहीं, अपितु उनके द्वारा व्याप्ति स्वीकार करने का खण्डन भी किया है। प्राकृतिक तथ्यों से सम्बन्ध व्याप्तियाँ भी भिन्न-भिन्न रही हैं। जिस दर्शन का जो सिद्धान्त रहा उसने उसी के आधार पर व्याप्ति को परिभाषित करने का प्रयास किया। अविनाभाव के लिए जहाँ तक त्रैकालिक अव्यभिचार का प्रश्न है, वैज्ञानिक व्याप्तियों को खण्डित होते देख यह नहीं कहाँ जा सकता कि सारी व्याप्तियाँ सही ही हैं। हाँ! व्याप्तियां अपने देश-काल विशेष में ही सही हो सकती है, यह आवश्यक नहीं की वे त्रैकालिक सत्य हों।

सन्दर्भ

१. शर्मा, डॉ० ब्रजनारायण, **भारतीय दर्शन में अनुमान**, पृ० ७४.

२. कोठिया, डॉ० दरबारी लाल, **जैन तर्कशास्त्र में अनुमान विचार**, पृ० १३०.

३. मुनि, नथमल, **जैन न्याय का विकास**, पृ० ११५.

४. जैन, डॉ० धर्मचन्द्र, **बौद्ध प्रमाण-मीमांसा की जैन दृष्टि से समीक्षा**, पृ० २६०.

५. विजल्वान, डॉ० चक्रधर, **भारतीय न्यायशास्त्र**, पृ० २२०.

६. नियतधर्मसाहित्यमुभयोरेकतरस्य वा व्याप्तिः। **सांख्यसूत्र**, ५/२९.

७. विजल्वान, डॉ० चक्रधर, **भारतीय न्यायशास्त्र**, प० २२७.

८. अनुमेयस्य तुल्यजातीयेष्वनुवृतौ भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृतः सम्बन्धः। **व्यासभाष्य**, पृ० २८.

९. विजल्वान, डॉ० चक्रधर, **भारतीय न्यायशास्त्र**, पृ० २२७.

१०. यत्रधूमस्तत्राग्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः। **तर्कभाषा**, अनुमान निरूपण, पृ० ७२.

११. विजल्वान, डॉ० चक्रधर, **भारतीय न्यायशास्त्र**, पृ० २२२.

१२. प्रसिद्धिपूर्वकत्वादपेदेशस्य। अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन्सन्दिग्धश्चानपेदेशः। वैशेषिक सूत्र ३.१/१४-१५.

१३. **शाबरभाष्य**, शबर स्वामी, पृ० ३६.

१४. स्वाभाविक सम्बन्धों व्याप्तिः। **मानमेयोदय**, नारायण भट्ट, पृ० २६.

१५. सम्बन्ध नियमों व्याप्तिः। दृश्यमानेषु देशकालादिषु यो लिङ्गस्य-लिङ्गिना सहभावः स एव नियमः। **तन्त्रसिद्धान्तरत्नावली**, चित्रस्वामी, पृ० ५२.

१६. **प्रकरणपञ्जिका**, शालिकनाथ, पृ० २०२.

१७. **न्यायबिन्दु टीका** २/२२-२३.

१८. पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुस्त्रिधैव सः।
अविनाभावनियमात् हेत्वाभासास्ततोऽपरे।। **प्रमाणवार्तिक** ३/१.

१९. स्वभावप्रतिबंधे हि सत्यर्थोऽर्थगमयेत। **न्यायबिन्दु** २/१९.

२०. स च प्रतिबन्धः साध्येऽर्थेलिङ्गस्य। वही २/२१.

२१. तस्य व्याप्तिर्हि व्यापकस्य तत्र भाव एव।
व्याप्यस्य वा तत्रैव भावः। **हेतुबिन्दु**, पृ० ५३.

२२. कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात् ।
अविनाभावनियमोऽदर्शनान्न न दर्शनात् ।। **प्रमाणवार्तिक** ३/३१

२३. यस्य येन सह तादात्म्यदुत्पत्ति न स्तो न स
तदविनाभावी यथा प्रमेयत्वादिरनित्यत्वादिना। **हेतुबिन्दु टीका**, पृ० ९

२४. जैन, डॉ० धर्मचन्द्र, **बौद्ध प्रमाणमीमांसा की जैन दृष्टि से समीक्षा**, पृ० २५८.

२५. उद्धृत, शर्मा, डॉ० ब्रजनारायण, **भारतीय दर्शन में अनुमान**, पृ० १७४.

२६. **न्यायबिन्दु टीका**, पृ० ११३.

२७. **बौद्ध तर्कभाषा टीका**, पृ० ८५.

२८. तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामविनाभावो व्याप्तः, तयोस्तत्रावश्यंभावात्। तस्य च तयोरेव भावादतत्स्वभावस्यातदुत्पत्तेश्च (तदनायत्तत) या तदव्यभिचारनियमाभावात्। **हेतु-बिन्दू टीका**, पृ० ८.

२९. कोठिया, डॉ० दरबारीलाल, **जैन तर्कशास्त्र में अनुमान विचार**, पृ० १३८.

३०. शर्मा, डॉ० ब्रजनारायण, **भारतीय दर्शन मे अनुमान** पृ० १९२.

३१. विजल्वान, डॉ० चक्रधर, **भारतीय न्यायशास्त्र**, पृ २३१.

३२. 'अन्वयो व्यतिरेको वा उक्तः' वेदितव्य इति सम्बन्धः। अन्वयव्यतिरेकरूपत्वाद् व्याप्तिरेति भावः। **हेतुबिन्दु टीका**, पृ० १९.

३३. इदमस्मिन् सत्येव भवत्यसति न भवेत्येवेति च। यथाऽग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्वेवेति च। **परीक्षामुख**, ३/८-९.

३४. शर्मा, डॉ० ब्रजनारायण, **भारतीय दर्शन में अनुमान**, पृ० १३८.

३५. वही, पृ० १३८.

३६. त्रिकालवर्तिसाध्य-साधनयोः सम्बन्धः व्याप्तिः।
प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३/७ की व्याख्या।

३७. Bhattacharya, Dr. Hari Satya, Praman-Naya Tattawalokalankar, Page 182

३८. मुनि, नथमल, **जैन न्याय का विकास**, पृ० ११५.

३९. व्याप्तिर्व्यापकस्य व्याप्ते सति भाव एव व्याप्तस्य वा तत्रैव भावः। **प्रमाणमीमांसा** १/२/६

४०. **प्रमाणमीमांसा** (भाषा टिप्पणी), पृ० ७९.

४१. वही, पृ० ७९.

४२. कालत्रयीवर्तिनोः साध्यसाधनयोर्गम्यगमकयोः सम्बन्धोऽविनाभावो व्याप्तिः। **रत्नाकरावतारिका**, भाग-२, पृ० २०.

४३. साध्यसाधनयोर्गम्यगमकभावप्रयोजको व्यभिचारगन्धासहिष्णुः सम्बन्धविशेषो व्याप्तिरविनाभावः। **न्यायदीपिका**, पृ० ६२

४४. सम्भवप्रत्ययस्तर्कः प्रत्यक्षानुपलम्भतः।
अन्यथा सम्भवासिद्धेरनवस्थानुमानतः।। **प्रमाणसंग्रह कारिका,** १२

४५. साध्य साधनसम्बन्धाज्ञाननिवृत्तिरूपे साक्षात्स्वार्थनिश्चायने फले साधकतमस्तर्कः। **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक,** १/१३/११९

४६. उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः। **परीक्षामुख,** ३/७

४७. उपलम्भानुपलम्भसंभवं, त्रिकालीकलितसाध्यसाधनसम्बन्धाद्यलम्बनम्, इदमस्मिन् सत्येव भवति इत्याद्याकारं संवेदनम् ऊहाऽपरनामा तर्कः। **प्रमाणनयतत्त्वालोक,** ३/७

४८. यथा यावान कश्चिद् धूमः स सर्वो वह्नौ सत्येव भवतीति तस्मिन्नसत्ययौ न भवत्येवा वही, ३/८

४९. पक्षीकृत एव विषये साधनस्य साध्येन व्याप्तिरन्तर्व्याप्तिः, अन्यत्र तु बहिर्व्याप्तिः। यथा अनेकान्तात्मकं वस्तु सत्त्वस्य तथैवोपपत्तेरिति, अग्निमानयं देशः धूमवत्वाद्, य एवं स एवं, यथा पाकस्थानमिति च। **प्रमाणनयतत्त्वालोक,** ३/३८-३९

५०. विजल्वान, डॉ० चक्रधर, **भारतीय न्यायशास्त्र,** पृ० २३१.

५१. कोठिया, डॉ० दरबारी लाल, **जैन तर्कशास्त्र में अनुमान विचार,** पृ० १५६.

५२. सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः। **परीक्षामुख** ३/१२.

५३. सहचारिणोर्व्याप्यव्यापकयोश्च सहभावः, वही, ३/१३.

५४. कोठिया, डॉ दरबारी लाल, **जैन न्याय की भूमिका,** पृ० ८३.

५५. पूर्वोत्तर चारिणोः कार्यकारणयोश्च क्रमभावः। **परीक्षामुख,** ३/१४.

*

श्रमण, वर्ष ५८, अंक २-३
अप्रैल-सितम्बर २००७

जैन दार्शनिक चिन्तन का ऐतिहासिक विकास-क्रम

डॉ० किरन श्रीवास्तव*

भारतीय दर्शनों में जैन दर्शन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारत के सभी दर्शनों का मुख्य ध्येय दु:खों से आत्यन्तिक निवृत्ति है। यह संसार अनादि-अनन्त है, इसमें संयोग-वियोगजन्य सुख-दु:ख की अविरल धारा बह रही हैं। इसमें निमज्जन करते-करते जब प्राणी थक जाता है तब वह शाश्वत आनन्द की खोज में निकलता है। वहाँ जो ध्येय और उपादेय की मीमांसा बनती है, वह दर्शन बन जाता है। दर्शन का मान्य अर्थ तत्त्व का साक्षात्कार या उपलब्धि है।

भारत में दो प्रकार की दार्शनिक परम्पराएं अनादि काल से विकसित रही हैं- वैदिक परम्परा और श्रमण परम्परा। वैदिक परम्परा में षड्दर्शन- न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, और वेदान्त हैं। जबकि श्रमण परम्परा के अन्तर्गत जैन और बौद्ध दर्शन आते हैं। जैन संस्कृति जो अब भारत में श्रमण धारा का प्रतिनिधित्व कर रही है, अपने निषेधात्मक रूप में अवैदिक है। वास्तव में भारतीय संस्कृति एक मिली-जुली संस्कृति है जिसके विकास में इन दोनों धाराओं- ब्राह्मण और श्रमण ने अपना-अपना योगदान दिया है, दोनों धाराओं में बहुत-सी समानताएं होते हुए असमानताएं भी हैं। किन्तु यह भी असत्य नहीं है कि दोनों की अपनी-अपनी विशेषताएं और विभिन्नताएं हैं। सामान्य रूप से यह विश्वास किया जाता है कि श्रमण परम्परा का उद्भव और विकास वैदिक विचारधारा की रूढिवादिता के विरोध में हुआ है किन्तु यह सत्य नहीं है, क्योंकि श्रमणधारा के दोनों दर्शनों का उद्भव किसी के विरोध में न होकर स्वत:स्फूर्त है। इन दोनों दर्शनों के प्रवर्तक भारत भूमि में जन्मे दो महान व्यक्तित्व हैं- **महावीर** और **गौतम बुद्ध,** जिन्होंने मानवीय समस्याओं की आत्यन्तिक निवृत्ति का लक्ष्य सामने रखकर भिन्न-भिन्न जीवन पद्धतियों को जन्म दिया। इन पद्धतियों के हृदयग्राही रूप ने सामान्य जन-जीवन को प्रभावित किया। जिसके कारण कुछ ही समय में असंख्य लोग इसके अनुयायी बन गये। मनुष्य के लिए मनुष्यों द्वारा प्रतिपादित इन चिन्तन धाराओं का निरन्तर प्रवाहित होते रहना इस बात का प्रबल प्रमाण है कि इसमें मानव हित की अपूर्व शक्ति विद्यमान है।

* *पूर्व शोधछात्रा- पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी*

जैन दर्शन इसी परम्परा का एक अंग है। चौबीसवें तीर्थंकर महावीर स्वामी के बाद अनेक आचार्यों ने इस दर्शन को विकसित करने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। जिसके कारण विश्व और मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष की समस्याओं के समाधान हेतु सुसम्बद्ध चिन्तन-पद्धति के रूप में आज जैन दर्शन हमारे सामने उपलब्ध है।

जैन दर्शन का उद्भव और विकास :

ईसा पूर्व छठी शताब्दी के आस-पास का समय भारत में बौद्धिक क्रांति और तार्किक गवेषणा का काल माना जाता है। इस युग में मानवीय जीवन व्यापार को प्रेरणा देने वाली शक्तियों और उसे मान्यता प्रदान करने वाले विचारों में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। समस्त मानवीय चेतना सोते-सोते जाग पड़ी और कुछ ऐसे सुधारक उत्पन्न हुए जिनमें से कुछ ने वैदिक धारा के अन्तर्गत ही रहकर उसे शुद्ध रूप देने का प्रयास किया, और दूसरे सुधारकों ने वैदिक सिद्धान्तों को अस्वीकार कर अपने सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा की। प्रथम कोटि के सुधारक वाल्मीकि और व्यास थे, तथा दूसरे प्रकार के सुधारक महावीर और गौतम बुद्ध थे। वेद बाह्य सुधारकों ने याज्ञिक हिंसा का निश्चित और कठोर स्वरों में विरोध किया। जहाँ जैन सन्तों ने आस्तिक विचारकों के केवल व्यावहारिक पक्ष का विरोध किया वहीं बौद्ध सन्तों ने उसके व्यावहारिक और तात्त्विक दोनों प्रकार के पक्षों का रूपान्तर किया। जैन दर्शन का विकास मात्र तत्त्वज्ञान की भूमि पर न होकर आचार की भूमि पर भी हुआ है। जीवन शोधन की व्यक्तिगत मुक्ति-प्रक्रिया और समाज तथा विश्व में शान्ति स्थापना की लोकैषणा का मूल मंत्र अहिंसा ही है।

अहिंसा का निरपवाद और निरूपाधि विचार समस्त प्राणियों के जीवन को आत्मसात किये बिना हो नहीं सकता था। श्रमण धारा का सारा तत्त्वज्ञान या दर्शन विस्तार, जीवन-शोधन और चारित्र-वृद्धि के लिए हुआ है। वैदिक परम्परा में तत्त्वज्ञान को मुक्ति का साधन माना गया है। वैदिक परम्परा वैराग्य आदि से ज्ञान की पुष्टि करती है और विचार शुद्धि करके ज्ञान को ही मोक्ष मान लेती है। जबकि श्रमण परम्परा चारित्र पर बल देती है और कहती है कि उस ज्ञान का, उस विचार का कोई विशेष मूल्य नहीं है जो जीवन में न उतरे, जिसकी सुवास से जीवन सुवासित न हो। कोरा ज्ञान या विचार दिमागी कसरत से अधिक कुछ भी महत्त्व नहीं रखता। इसकी पुष्टि जैन परम्परा में तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम सूत्र से हो जाती है।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।।[१]

जैन दर्शन में तत्त्वमीमांसीय एवं ज्ञानमीमांसीय अवधारणाओं का अत्यंत सूक्ष्म विवेचन हुआ है एवं तदनुसार उस पर विराट दार्शनिक साहित्य का सृजन भी हुआ है। साहित्य की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध जैन दर्शन का सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान आगम तथा आगमेतर साहित्य में उपलब्ध है। आगमों में निबद्ध गूढ़ दार्शनिक मान्यताओं के प्रकटीकरण में आगमेतर दार्शनिक साहित्य का विशिष्ट अवदान है। कालक्रम के आधार पर जैन दर्शन के विकास की निम्न अवस्थाएं मिलती हैं -

(१) आगमिक युग - भगवान महावीर के निर्वाण से लेकर करीब एक हजार वर्ष का अर्थात् विक्रम की पाँचवीं शताब्दी तक।

(२) अनेकान्त स्थापना युग - विक्रम की पाँचवीं शताब्दी से आठवीं शताब्दी तक ।

(३) दार्शनिक समीक्षा युग - विक्रम की आठवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक।

(४) नवीन न्याय युग - विक्रम की सत्रहवीं से आधुनिक समय पर्यन्त।

आगमिक युग :

भगवान महावीर के उपदेशों का संग्रह उनके साक्षात् शिष्य अर्थात् गणधरों ने अंगों के रूप में किया।[२] उन्हीं के आधार पर अन्य स्थविरों ने शिष्यों के हितार्थ जो साहित्य अपनी शैली में ग्रथित किये वे उपांग, प्रकीर्णक, छेद और मूलसूत्र के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनका अंतिम संस्करण वलभी में वीरनिर्वाण के ९८० वर्ष बाद, मतान्तर से ९९३ वर्ष के बाद हुआ। आगम युग की काल मर्यादा महावीर के परिनिर्वाण अर्थात् वि०पू० ५२७ से प्रारंभ होकर प्रायः एक हजार वर्ष तक जाती है। भगवान महावीर द्वारा अर्थ रूप में भाषित आगम के कालक्रम के अनुसार दो विभाग हो गए। भगवान के उपदेश के अर्थागम और उसके आधार पर की गयी सूत्र रचना को सूत्रागम कहा गया। इसका अपरनाम गणिपिटक भी है। आगम रूप संकलन के मुख्य बारह विभाग थे, अतः वे द्वादशांगी के नाम से विख्यात हुए। बारह अंग निम्न हैं-

(१) आचारांग, (२) सूत्रकृतांग, (३) स्थानांग, (४) समवायांग, (५) भगवती/व्याख्याप्रज्ञप्ति (६) ज्ञाताधर्मकथा, (७) उपासकदशा, (८) अन्तकृत् दशा, (१०) प्रश्नव्याकरण, (११) विपाकश्रुत, (१२) दृष्टिवाद।

आगमिक साहित्य को रचना की दृष्टि से दो भागों में बाँटा गया है-

(१) अंग प्रविष्ट एवं (२) अनंग प्रविष्ट या अंगबाह्य

भगवान महावीर के ११ गणधरों ने जो साहित्य सृजन किया वह अंग प्रवृष्ट है और स्थविरों ने जिस साहित्य की रचना की है वह अनंग प्रविष्ट है। द्वादशांगी के अतिरिक्त सम्पूर्ण आगम साहित्य अनंग प्रविष्ट है। आगमों में मुख्य स्थान रखनेवाली द्वादशांगी की विशेषता है कि वह स्वत:प्रमाण है। शेष आगम परत:प्रमाण हैं अर्थात् द्वादशांगी से जो अविरुद्ध है वह प्रमाण, शेष अप्रमाण है।

अंगबाह्य ग्रंथों में औपपातिक, राजप्रश्नीय आदि १२ उपांग; आवश्यक, दशवैकालिक, आदि ४ मूलसूत्र; नन्दी-अनुयोगद्वाररूप २ चूलिकायें; निशीथ, महानिशीथ, आदि ६ छेदसूत्र तथा चतु:शरण, आतुरप्रत्याख्यान,आदि १० प्रकीर्णक अन्तर्भावित हैं।

इन सभी सूत्रों का सम्बन्ध दर्शन से नहीं है। कुछ का सम्बन्ध जैन आचारशास्त्र से, कुछ का भूगोल-खगोल शास्त्र से, कुछ उपदेशात्मक हैं तो कुछ का सम्बन्ध कल्पित कथाओं तथा शुभ और अशुभ विपाक-कथाओं से है। अत: जैन आगमों में तत्कालीन सभी विद्याओं का समावेश हुआ। दर्शन से सम्बन्धित आगम हैं - सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति), प्रज्ञापना, राजप्रश्नीय, जीवाजीवाभिगम, नन्दी और अनुयोगद्वार।

आगम युग में दार्शनिक विषयों का निरूपण 'राजप्रश्नीय' को छोड़ दें तो युक्तियुक्त पूर्वक प्राय: नहीं किया गया है, यह स्पष्ट है। प्रत्येक विषय का निरूपण जैसे कोई द्रष्टा देखी हुई बात बता रहा हो, इस ढंग से हुआ है। वस्तु का निरूपण उसके लक्षण द्वारा नहीं, किन्तु भेद-प्रभेद के प्रदर्शन पूर्वक किया गया है। आज्ञा प्रधान या श्रद्धा प्रधान उपदेश शैली यह आगम युग की विशेषता है।

'सूत्रकृतांग'' में तत्कालीन दार्शनिक विचारों का निराकरण करके स्वमत की स्थापना की गयी है। तत्कालीन क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद का निराकरण कर सुसंस्कृत क्रियावाद की स्थापना की गयी है। 'प्रज्ञापना' में जीव के विविध भावों को लेकर विस्तार से विचार किया गया है। 'राजप्रश्नीय' में पार्श्वनाथ की परम्परा में हुए केशी श्रमण ने श्रावस्ती के राजा पएसी के प्रश्नों के उत्तर में नास्तिकवाद का निराकरणकर आत्मा और तत्सम्बन्धी अनेक बातों को उदाहरण देकर युक्तिपूर्वक समझाया है। 'भगवतीसूत्र' में अनेक प्रश्नोत्तरों में नय, प्रमाण, सप्तभंगी, अनेकान्तवाद आदि अनेक दार्शनिक विचार बिखरे पडे हैं। 'नन्दीसूत्र' जैन परम्परामान्य ज्ञान के स्वरूप और भेदों का विश्लेषण करती है। 'स्थानांग' और 'समवायांग' बौद्धों के 'अंगुत्तरनिकाय' की भांति हैं जिनमें आत्मा, पुद्गल, ज्ञान, नय, प्रमाण आदि

विषयों का निरूपण हुआ है। भगवान महावीर के शासन में हुए निह्नवों का वर्णन स्थानांग में है। 'अनुयोगद्वार' में शब्दार्थ करने की प्रक्रिया का वर्णन मुख्य है, किन्तु प्रसंग से उसमें ज्ञान, प्रमाण, नय तथा तत्त्वों का भी निरूपण हुआ है।

इसके पश्चात् आगमों की टीकायें आती हैं। प्राकृत में निबद्ध निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि इनके अंग हैं। निर्युक्ति और भाष्य पद्यमय तथा चूर्णि गद्यमय हैं। निर्युक्तियों में भद्रबाहु द्वितीय ने कई प्रसंगों में दार्शनिक चर्चायें प्रस्तुत की हैं। इसके अतिरिक्त आत्मा के अस्तित्व का विवेचन, ज्ञान का सूक्ष्म विवेचन, शब्दार्थ की पद्धति तथा प्रमाण, नय, निक्षेप आदि विवरण भी टीका साहित्य में हुआ है।

जहां तक आगमिक भाष्यकारों का प्रश्न है, उनमें संघदासगणि और जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण प्रमुख हैं। 'विशेषावश्यकभाष्य' में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने आगमिक पदार्थों का तर्कसंगत विवेचन किया है। प्रमाण, नय, निक्षेप की सम्पूर्ण चर्चा के अतिरिक्त दार्शनिक चर्चा का कोई ऐसा विषय नहीं है जिसे जिनभद्र ने स्पर्श न किया हो। 'बृहत्कल्पभाष्य' में संघदासगणि ने साधुओं के आहार-विहार आदि नियमों के उत्सर्ग एवं अपवाद मार्ग की चर्चा दार्शनिक ढंग से की है। उन्होंने भी प्रसंगानुसार प्रमाण, नय, निक्षेप की चर्चा की है। लगभग सातवीं-आठवीं शताब्दी से चूर्णियां मिलनी आारम्भ होती हैं। चूर्णिकारों में जिनदास महत्तर लोकप्रिय रहे हैं। उन्होंने 'नन्दीचूर्णि' के अतिरिक्त भी कुछ चूर्णियां लिखीं हैं। अवधेय है कि चूर्णियों में भाष्य के विषय को ही संक्षेप में लिखा गया है।

जैनागमों की सबसे प्राचीन संस्कृत टीका आचार्य हरिभद्रकृत मानी जाती है। उनका समय वि. ७५७-८५७ के बीच माना जाता है। हरिभद्र की टीकाओं में सभी दर्शनों की पूर्वपक्ष के रूप में चर्चा है। उन्होंने प्राकृत चूर्णियों का प्राय: संस्कृत में अनुवाद किया और जैन तत्त्वज्ञान की दार्शनिक प्रतिष्ठा की। हरिभद्र के बाद शीलांकसूरि (दसवीं शताब्दी) ने संस्कृत टीकाओं की रचना की। उनके पश्चात् शान्त्याचार्य हुए जिन्होंने उत्तराध्ययन की बृहत् टीका लिखी। उसके बाद नवांगी टीकाकार अभयदेव (वि. १०७२-११३५) का क्रम आता है जिन्होंने नौ अंगों पर टीकायें लिखीं। १२वीं शती के विद्वान् मलधारी हेमचन्द्र भी इस क्रम में उल्लेखनीय हैं किन्तु आगमों की संस्कृत टीका बनाने में यदि किसी का नाम प्रमुखता से लिया जाता है तो वे हैं- आचार्य मलयगिरि। प्रांजल भाषा में दार्शनिक चर्चा का आनन्द मलयगिरि की टीकाओं में आता है। ये हेमचन्द्र के समकालीन थे, अत: इनका समय १२वीं शताब्दी ही माना जाना चाहिये।

संस्कृत-प्राकृत टीकाओं का परिमाण इतना बढता गया और विषयों की चर्चा इतनी गहनतर होती गयी कि बाद में यह आवश्यक समझा गया कि आगमों का शब्दार्थ बताने वाली संक्षिप्त टीकायें की जायें। फलस्वरूप अपभ्रंश अर्थात् प्राचीन गुजराती भाषा में बालावबोधों की रचना प्रारम्भ हुई जिन्हें टब्बा कहा गया। १८वीं सदी के धर्मसिंह मुनि का नाम बालावबोधों के रचनाकारों में विशेष उल्लेखनीय है।

दिगम्बर आगम

श्वेताम्बर सम्मत उक्त आगमों को दिगम्बर आम्नाय नहीं मानता। वे अंगादि प्राचीन आगमों को लुप्त मानते हैं, किन्तु उनके आधार पर विशेषतया दृष्टिवाद के आधार पर दिगम्बर आचार्यों द्वारा ग्रथित कुछ ग्रंथों को आगमतुल्य मानते हैं। उनमें पुष्पदन्त भूतबलिकृत 'षट्खण्डागम', आचार्य गुणधरकृत 'कषायपाहुड' और 'महाबन्ध' प्रमुख हैं। इनका विषय जीव और कर्म तथा कर्म के कारण जीव की नाना अवस्थाएं हैं। दार्शनिक खण्डन-मण्डन मूल में नहीं, अपितु बाद में होने वाली उनकी बडी-बडी टीकाओं - धवला, जयधवला आदि में विशेषतया पाया जाता है। दिगम्बर आम्नाय के आचार्य कुन्दकुन्द का नाम इस सन्दर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिनका समय दिगम्बर ईसा की प्रथम शती तथा श्वेताम्बर पांचवीं-छठी शती मानते हैं। उनके ग्रंथ दिगम्बर सम्प्रदाय में आगमतुल्य ही माने जाते हैं जिनमें प्रवचनसार, नियमसार, समयसार, अष्टपाहुड आदि प्रसिद्ध हैं। इन आगमतुल्य ग्रंथों को दिगम्बरों ने १. प्रथमानुयोग (पुराण आदि), २. करणानुयोग (सूर्यप्रज्ञप्ति आदि), ३. द्रव्यानुयोग (प्रवचनसार, आप्तमीमांसा आदि), ४. चरणानुयोग (मूलाचार, त्रिवर्णाचार[३] आदि) इन चार भागों में वर्गीकृत किया है।

तत्त्वार्थसूत्र और उसकी टीकायें

आगमों में जैन प्रमेयों का वर्णन विप्रकीर्ण था अतएव जैन तत्त्वज्ञान, आचार, भूगोल, खगोल, जीवविद्या, पदार्थविज्ञान आदि नाना आकार के विषयों का संक्षेप मे निरूपण करनेवाले एक ग्रंथ की महती आवश्यकता थी जिसकी कमी पूरी की आचार्य वाचक उमास्वाति / उमास्वामि (३सरी-४थी शती) ने तत्त्वार्थसूत्र की रचना कर। आगमों की तथा तत्त्वार्थ की टीकाएँ यद्यपि आगमयुग की नहीं हैं किन्तु उनक सीधा सम्बन्ध मूल के साथ होने से उनका महत्त्व अधिक है। यह ग्रंथ दोनों सम्प्रदायों में समान रूप से मान्य है। जैन धर्म और दर्शन की मान्यताओं का इस ग्रन्थ में अच्छे ढंग से वर्णन हुआ है। आचार्य उमास्वाति ने स्वयं इस पर स्वोपज्ञ भाष्य लिखा था किन्तु वह पर्याप्त न था, क्योंकि समय की गति के साथ-साथ दार्शनिक चर्चाओं मे

गम्भीरता और विस्तार बढ़ रहा था जिसका समावेश करना अनिवार्य समझा गया। परिणाम यह हुआ कि पूज्यपाद ने छठी शताब्दी में 'तत्त्वार्थसूत्र' पर 'सर्वार्थसिद्धि' नामक एक स्वतंत्र टीका लिखी, जिसमें उन्होंने जैन पारिभाषिक शब्दों के लक्षण निश्चित किए और यत्र-तत्र दिङ्नाग आदि अन्य विद्वानों के मत का अल्पमात्रा में खण्डन भी किया। विक्रम की आठवीं-नौवीं शताब्दी में तो टीकाओं की होड लग गयी और अकलंक तथा विद्यानन्द ने क्रमशः 'राजवार्तिक' एवं 'श्लोकवार्तिक' की रचना की। सिद्धसेन और उनके बाद हरिभद्र ने अपने समय तक होने वाली चर्चाओं का समावेश अपनी बृहत्काय और लघुवृत्तियों में किया। ये पांचों कृतियां दार्शनिक हैं। दिङ्नाग के 'प्रमाणसमुच्चय' के ऊपर धर्मकीर्ति ने 'प्रमाणवार्तिक' लिखा और जिस प्रकार उसी को केन्द्र में रखकर सम्पूर्ण बौद्ध दर्शन विकसित हुआ उसी प्रकार तत्त्वार्थ को केन्द्र में रखकर जैन दार्शनिक साहित्य का विकास हुआ। बाद में मलयगिरि, चिरन्तनमुनि एवं वाचक यशोविजय ने भी तत्त्वार्थसूत्र पर टीकायें लिखीं। अतः सत्रहवीं शताब्दी तक के दार्शनिक साहित्य का अन्तर्भाव भी इसमें हुआ। दिगम्बर आचार्यों में भी श्रुतसागर, विधुसेन, योगीन्द्रदेव, योगदेव, अभयनन्दी आदि ने संस्कृत टीकायें लिखीं। बीसवीं शती में भी पं० सुखलालजी ने तत्त्वार्थ पर सुन्दर विवेचन किया है।

अनेकान्त-स्थापना युग

भारतीय दार्शनिक क्षेत्र में बौद्ध दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित नागार्जुन ने एक अभिनव चेतना जागृत की। उन्होंने दार्शनिक वाद-विवादों एवं तत्त्वचर्चा को एक नूतन आयाम दिया तथा दार्शनिक क्षेत्र में एक क्रांतिकारी परिवर्तन किया। इस क्रांतिकारी परिवर्तन का प्रभाव सिर्फ बौद्ध दर्शन पर ही नहीं अपितु सभी भारतीय दर्शनों पर पड़ा। एक तरह से दर्शनशास्त्र के तार्किक अंश (स्वपक्ष) का मण्डन और पर पक्ष के खण्डन का दौर प्रारंभ हो चुका था। जैन दर्शन भी इससे अछूता नहीं रहा। उस समय वाद-विवाद को तटस्थ रूप से देखनेवाले जैनाचार्य इससे अपने को बचा नहीं सके। फलतः जैन परम्परा ने सिद्धसेन दिवाकर और स्वामी समन्तभद्र जैसे तार्किकों को उपस्थित किया।

जैन दर्शन के महान् आचार्यों ने श्रमण भगवान महावीर के समय से श्रुत साहित्य में नय आदि के रूप में अनेकान्तवाद के जो बीज बिखरे हुए थे उन्हें सिद्धान्त रूप में स्थिर किया। इस मूल आधार को लक्ष्य में रखकर जैन दार्शनिक साहित्य में इस समय को 'अनेकान्त स्थापना युग' कहा गया। इस युग में आचार्य सिद्धसेन दिवाकर, समन्तभद्र, मल्लवादी, सिंहगणि और पात्रकेशरी, ये पाँच जैन दार्शनिक हुए।

आचार्य सिद्धसेन की विशेषता यह है कि उन्होंने तत्कालीन नाना वादों को नयवादों में सन्निविष्ट कर दिया। उनका मानना है कि संसार में जितने दर्शन भेद हो सकते हैं, जितने भी वचन भेद हो सकते हैं, उतने ही नयवाद हैं और उन सभी के समागम से अनेकान्तवाद फलित है। सभी नयों का समावेश मात्र दो नयों- द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक में हो जाता है। जब मनुष्य द्रव्यार्थिक अर्थात् अभेद की दृष्टि करता है और भेद की ओर उपेक्षाशील हो जाता है तब उसे अभेद ही अभेद नजर आता है। किन्तु दूसरा यदि भेदगामी दृष्टि यानी पर्यायार्थिक नय के बल से प्रवृत्त होता है, तो उसे सर्वत्र भेद ही भेद दिखाई देता है। स्याद्वाद की दृष्टि में भेद दर्शन और अभेद दर्शन दोनों ठीक हैं। इसका कारण यह है कि स्याद्वाद में इन दोनों विरुद्ध मतों का समन्वय है। दोनों का विरोध लुप्त हो गया है। अनेकान्तवाद इन दोनों के समन्वय में है न कि विरोध में। कार्यकारण में भेदाभेद को लेकर दार्शनिकों में मतभेद थे। इस सन्दर्भ में न्याय-वैशेषिक, सांख्य एवं अद्वैतवेदान्त के मतों की समीक्षा करते हुए सिद्धसेन ने बताया कि अभेदगामी दृष्टि से विचार करने पर कार्य-कारण में अभेद है, और भेदगामी दृष्टि से देखने पर भेद है, अतएव एकान्त को त्याग कर कार्य-कारण में भेदाभेद मानना ही युक्तिसंगत है। इस युग में समस्त भारतीय दर्शन के सामने नागार्जुन का शून्यवाद, वसुबन्धु का विज्ञानवाद और वेदान्त का अद्वैतवाद ही चर्चा के विषय रहे। जैन परम्परा के दार्शनिक आचार्यों ने शून्यवाद, विज्ञानवाद, अद्वैतवाद एवं भाषावाद के समक्ष जैन परम्परा के अनेकान्तवाद या स्याद्वाद को प्रस्तुत किया जिसने प्रतिवादियों के प्रतिवाद का खण्डन कर जिनमत की प्रतिष्ठा की। इसी प्रकार नित्य-अनित्यवाद, हेतुवाद-अहेतुवाद, भाव-अभाववाद, सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद आदि नाना विरुद्ध वादों का समन्वय सिद्धसेन ने अपने ग्रन्थों में किया है। आचार्य सिद्धसेन ने सन्मतितर्क में नय और अनेकान्त का गम्भीर, विशद् और मौलिक विवेचन तो किया ही साथ ही उन्होंने प्रमाण के स्वपरावभासक लक्षण में बाधविवर्जित विशेषण देकर उसे विशेष समृद्ध किया[४]। आचार्य सिद्धसेन ने 'न्यायावतार' में प्रमाण के प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन भेद किये हैं। इन्होंने प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों के स्वार्थ और परार्थ दो भेद किए हैं। अनुमान और हेतु का लक्षण करके दृष्टान्त, दूषण आदि परार्थानुमान के समस्त अंगों का निरूपण सिद्धसेन ने किया है।

सिद्धसेन के इस कार्य को समन्तभद्र (ईसा की छठी शताब्दी) ने मनोयोग से आगे बढाया। उनकी विशेषता यह है कि उन्होंने विरोधी वादों के युगल को लेकर सप्तभंगियों की योजना कैसे हो, इसका स्पष्टीकरण भाव-अभाव, नित्य-अनित्य, भेद-अभेद, हेतुवाद-अहेतुवाद, सामान्य-विशेष आदि तत्कालीन नाना वादों में

सप्तभंगी की योजना कर किया। समन्तभद्रकृत आप्तमीमांसा अनेकान्त की प्रतिष्ठा करने वाला श्रेष्ठ ग्रन्थ माना गया है। स्वामी समन्तभद्र ने एकान्तवादों की आलोचना के साथ ही साथ अनेकान्त का स्थापन, स्याद्वाद का लक्षण, सुनय-दुर्नय की व्याख्या और अनेकान्त में अनेकान्त की प्रक्रिया बताई। उन्होंने बुद्धि और शब्द की सत्यता और असत्यता का आधार मोक्षमार्गोपयोगिता की जगह बाह्यार्थ की प्राप्ति और अप्राप्ति को बताया है।[५] समन्तभद्र ने स्वपरावभासक बुद्धि ज्ञान प्रमाण है, यह प्रमाण का लक्षण स्थिर किया तथा अज्ञान निवृत्ति इस उपादान और उपेक्षा को प्रमाण का फल बताया ।

सन्मति के टीकाकार वादप्रवीण मल्लवादी ने 'नयचक्र' नामक एक स्वतंत्र ग्रन्थ की रचना (वि० पाँचवीं-छठी शताब्दी) में की है। अनेकान्त को सिद्ध करने वाला यह एक अद्भुत ग्रन्थ है। ग्रन्थकार ने सभी वादों की एक चक्र कल्पना की है जिसमें पूर्व-पूर्ववाद का उत्तर-उत्तरवाद खण्डन करता है। पूर्व-पूर्ववाद की अपेक्षा से उत्तर-उत्तरवाद प्रबल मालूम होता है। किन्तु चक्रगत होने से प्रत्येक वाद पूर्व में अवश्य पड़ता है। अतएव प्रत्येक वाद की प्रबलता या निर्बलता सापेक्ष है। कोई निर्बल ही हो या सबल ही हो, यह एकान्त नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार सभी दार्शनिक अपने गुण-दोषों का यथार्थ प्रतिबिम्ब देख लेते हैं। नयचक्र पर सिंह क्षमाश्रमण ने १८००० श्लोक प्रमाण बृहत्काय टीका लिखी।

इस युग के एक प्रभावशाली आचार्य पात्रकेशरी हुए हैं जिनकी रचना 'त्रिलक्षणकदर्थन', सिद्धसेनकृत 'न्यायावतार' की तरह उस युग की प्रमाणशास्त्र से सीधा सम्बन्ध रखनेवाली कृति है। इनके अतिरिक्त अनेकान्त की व्यवस्था करने में छोटे-मोटे सभी जैनाचार्यों ने भरसक प्रयत्न किया और उस वाद को एक ऐसी स्थिर भूमिका प्रदान कर दी कि आगे के आचार्यों के लिए केवल उस वाद के ऊपर होने वाले नए-नए आक्षेपों का उत्तर देना ही शेष रह गया है। अत: इस युग का अनेकान्त स्थापनायुग अत्यन्त सार्थक है।

प्रमाण व्यवस्था युग

बौद्ध प्रमाणशास्त्र के पिता दिङ्नाग ने तत्कालीन न्याय, सांख्य और मीमांसा दर्शन के प्रमेयों का तो खण्डन किया ही साथ ही उनके प्रमाण लक्षणों का भी खण्डन किया तथा वसुबन्धु की प्रमाण विषयक विचारणा का संशोधन करके स्वतंत्र बौद्ध प्रमाणशास्त्र की व्यवस्था की। इसके उत्तर में प्रशस्तपाद, उद्योतकर, कुमारिल, सिद्धसेन, मल्लवादी, सिंहगणि, पज्यपाद, समन्तभद्र आदि ने अपने-अपने दर्शन

और प्रमाणशास्त्र का समर्थन किया। तत्पश्चात् दिङ्नाग के टीकाकार धर्मकीर्ति का न्याय के क्षेत्र में पदार्पण हुआ। इसके बाद तो एक ओर धर्मकीर्ति की शिष्य परम्परा के दार्शनिक अर्चट, धर्मोत्तर, शान्तरक्षित, प्रज्ञाकर आदि हुए जिन्होंने धर्मकीर्ति के पक्ष की रक्षा की तथा बौद्ध प्रमाणशास्त्र को स्थिर किया तो दूसरी ओर प्रभाकर, व्योमशिव, जयन्त, सुमति, पात्रस्वामी, मंडन आदि बौद्धेतर दार्शनिक हुए जिन्होंने अपने दर्शन की रक्षा की। यह वाद-प्रतिवाद जब तक बौद्ध दार्शनिक भारत छोड़कर बाहर नहीं चले गए, बराबर चलता रहा।

इस दीर्घकालीन संघर्ष में जैनों ने भी भाग लिया और अपना प्रमाणशास्त्र व्यवस्थित किया। आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने (ई० ७वीं सदी) अनेकान्त और नय आदि का विवेचन किया तथा प्रत्येक प्रमेय में उसे लगाने की पद्धति भी बतायी। उन्होंने लौकिक इन्द्रिय प्रत्यक्ष को जो अभी तक परोक्ष कहा जाता था और जिसके कारण लोक व्यवहार में असमंजसता थी, सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष की संज्ञा दी, अर्थात् आगमिक परिभाषा के अनुसार यद्यपि इन्द्रियजन्य ज्ञान परोक्ष ही है तो भी व्यवहार के निर्वाहार्थ उसे संव्यवहार प्रत्यक्ष कहा जाता है। भट्ट अकलंकदेव जैन प्रमाणशास्त्र के प्रतिष्ठापक माने जाते हैं। अकलंक ने प्रमाण व्यवस्था के लिए 'लघीयस्त्रय', 'न्यायविनिश्चिय' एवं 'प्रमाणसंग्रह' लिखा और 'सिद्धिविनिश्चय' नामक ग्रन्थ लिखकर उन्होंने जैन दार्शनिक मन्तव्यों को विद्वानों के सामने अकाट्य प्रमाण पूर्वक सिद्ध किया ।

उन्होंने अपने 'लघीयस्त्रय' (का० ३/१०) में प्रथमत: प्रमाण के दो भेद किये फिर प्रत्यक्ष के स्पष्ट रूप से मुख्य प्रत्यक्ष और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ये दो भेद किये। परोक्ष प्रमाण के भेदों में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम को अविशद् ज्ञान होने के कारण स्थान दिया। इस तरह प्रमाणशास्त्र की व्यवस्थित रूप रेखा यहाँ से प्रारम्भ होती है।

'अनुयोगद्वार', 'स्थानांग' और 'भगवतीसूत्र' में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम इन चार प्रमाणों का निर्देश मिलता है। यह परम्परा 'न्यायसूत्र' की है। 'तत्त्वार्थभाष्य' में इस परम्परा को 'नयवादान्तरेण' रूप से निर्देश करके भी इसको स्वपरम्परा में स्थान नहीं दिया है और न उत्तरकालीन किसी जैन ग्रन्थ में इनका कुछ निर्णय या निर्देश ही है। समस्त उत्तरकालीन जैन दार्शनिकों ने अकलंक द्वारा प्रतिष्ठापित प्रमाण-पद्धति को पल्लवित और पुष्पित करके जैन न्याय को विकसित किया है।

हरिभद्र ने जैन दर्शन के पक्ष को प्रबल बनाने के लिए 'अनेकान्तजयपताका' एवं 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' नामक अपने ग्रन्थ में बौद्ध और बौद्धेतर सभी दार्शनिकों के आक्षेपों का उत्तर दिया। उन्होंने बौद्धग्रन्थ 'न्यायप्रवेश' की टीका करके यह सूचित कर दिया कि ज्ञान के क्षेत्र में चौकाबन्दी नहीं चलेगी।[७] आचार्य विद्यानन्द ने अपने समय तक विकसित दार्शनिक वादों को 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' में स्थान दिया और उनका समन्वय करके अनेकान्तवाद की चर्चा को विकसित किया तथा प्रमाणशास्त्र सम्बन्धित विषयों की चर्चा भी उसमें की। इस सन्दर्भ में उनके आप्तपरीक्षा, पात्रपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, युक्त्यानुशासन आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं।

इनके अतिरिक्त जिन आचार्यों नें अपनी कृतियों से प्रमाणव्यवस्था को समृद्ध किया उनमें अनन्तकीर्ति, शाकटायन, अनन्तवीर्य, माणिक्यनन्दी, सिद्धर्षि, अभयदेव, प्रभाचन्द्र, वादिदेव, हेमचन्द्र, मल्लिषेण, शान्त्याचार्य, रत्नप्रभ, रामचन्द्र, सोमतिलक आदि प्रमुख हैं। इस प्रकार प्रमाण-व्यवस्था युग की स्थापना हुई ।

दार्शनिक समीक्षा युग : (नव्यन्याय-युग)

भारतीय दार्शनिक क्षेत्र में नव्यन्याय के युग का प्रारम्भ गंगेश उपाध्याय से होता है। गंगेश का जन्म विक्रम सं० १२५६ में हुआ। उन्होंने नवीनन्याय शैली का विकास किया तभी से समस्त दार्शनिकों ने उसके प्रकाश में अपने-अपने दर्शन का परिष्कार किया। गंगेश उपाध्याय ने नव्यन्याय के द्वारा प्रमाण-प्रमेय को अवच्छेदकावच्छिन्न की भाषा में जकड़ दिया। किन्तु यशोविजय के पूर्व जैन दार्शनिकों में से किसी का इस ओर ध्यान नहीं गया । फलत: १३वीं शताब्दी से १७वीं शताब्दी के अंत तक भारतीय दर्शनों की विचारधारा का जो नया विकास हुआ उससे जैन दार्शनिक साहित्य वंचित ही रहा। सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में वाचक यशोविजय ने काशी की ओर प्रयाण किया और सर्वशास्त्र वैशारद्य प्राप्त करके उन्होंने जैन दर्शन में भी नवीनन्याय की शैली से अनेक ग्रन्थ लिखे और अनेकान्तवाद के ऊपर किए गए आक्षेपों का समाधान करने का प्रयत्न किया। उन्होंने 'अनेकान्तव्यवस्था' लिखकर अनेकान्तवाद की पुन: प्रतिष्ठा की और 'अष्टसहस्त्री' तथा 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' नामक प्राचीन ग्रन्थों पर नवीन शैली की टीका लिखकर उन दोनों ग्रन्थों को आधुनिक बनाकर उनका उद्धार किया। उन्होंने नयवाद के विषय में 'नयप्रदीप', 'नयरहस्य', 'नयोपदेश' आदि अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। अपने नव्यन्याय की परिष्कृत शैली में रचित 'खंडनखंडखाद्य' आदि ग्रन्थों में यशोविजय ने उस युग तक के विचारों का समन्वय किया तथा उसे नये ढंग से परिष्कृत करने का आद्य और महान प्रयत्न किया। विमलदास की

'सप्तभंगीतरंगिणी' नव्य शैली की अकेली अनूठी रचना है। अठारहवीं शती में यशस्वतसागर ने 'जैनसप्तपदार्थी' आदि ग्रन्थों की रचना की।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन दार्शनिक चिन्तन का विकास क्रमपूर्वक हुआ है। इस विकास में इसने एक लम्बी अवधि तय की है। साथ ही इस तथ्य से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि इस विकास क्रम में जैन विद्वानों के साथ-साथ अजैन विद्वानों का भी स्मरणीय योगदान रहा है, क्योंकि दार्शनिक सिद्धान्त वाद-प्रतिवाद, आलोचना-प्रत्यालोचना और खण्डन-मण्डन से ही पुष्ट होते हैं।

सन्दर्भ :

१. **तत्त्वार्थसूत्र** १.१

२ **आवश्यकनिर्युक्ति** १९२

३. **हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर** भा० २, पृ. ४७४

४. **न्यायावतार,,सिद्धसेन दिवाकर-** १.१

५. **आप्तमीमांसा-** ८७

६. **न्यायावतार- सिद्धसेन दिवाकर**, १.१

७. मालवणिया, पं० दलसुख, **जैन दार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन**, जैन संस्कृति संशोधन मंडल, वाराणसी पृ. १९-२०.

*

श्रमण, वर्ष ५८, अंक २-३
अप्रैल-सितम्बर २००७

प्रकाशित उपांग साहित्य

ओम प्रकाश सिंह*

उपांग साहित्य

भारतीय साहित्य में जैन साहित्य का विशिष्ट स्थान है। जैन साहित्य को दो भागों में विभाजित किया गया है- अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। गणधरकृत आगम अंग अथवा अंगप्रविष्ट तथा स्थविरकृत आगम अंगबाह्य कहलाते हैं। उपांग अंगबाह्य आगम की कोटि में रखे गये हैं, परन्तु कालान्तर में जैन साहित्य के परिवर्तन एवं परिवर्धन की स्थिति में इन्हें अंगों से सम्बन्धित करने का प्रयास किया गया।

वर्तमान में हमें १२ उपांगों के उल्लेख मिलते हैं, जिनके नाम हैं - 'औपपातिक', 'राजप्रश्नीय', 'जीवाजीवाभिगम', 'प्रज्ञापना', 'सूर्यप्रज्ञप्ति', 'चन्द्रप्रज्ञप्ति', 'जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति', 'कल्पिका', 'कल्पावतंसिका', 'पुष्पिका', 'पुष्पचूलिका', 'वृष्णिदशा।' निरयावलिका में हमें पांच उपांगों का उल्लेख मिलता है। 'जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति' के वृत्तिकार शान्तिचन्द्र ने सर्वप्रथम १२ उपांगों का उल्लेख किया है। जिसमें निरयावलिका के पांच तथा अन्य सात उपांगों के नाम मिलते हैं। मैंने अपने लेख में उपांगों की अब तक की प्रकाशित सूची जो मेरी जानकारी में है उसे प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

औपपातिकसूत्र

औपपातिक जैन आगमों का प्रथम उपांग है। इसमें कुल ४३ सूत्र हैं। इस ग्रंथ का आरम्भ चम्पानगरी के वर्णन से किया गया है। इसके प्रकाशित संस्करण निम्न हैं-

१. प्रस्तावना के साथ E. Leumann. **Leipzig, 1883**
२. अभयदेव वृत्तिसहित, आगमसंग्रह प्रकाशन, कलकत्ता १८८०. आगमोदय समिति, बम्बई, १९१६.
३. सागरानन्दसूरि, आगमोदय प्रकाशन समिति, बम्बई -१९५५.
४. संस्कृत व्याख्या एवं हिन्दी-गुजराती अनुवाद, अनुवादक- मुनि घासीलाल जी, जैन शास्त्रोद्धार समिति राजकोट, १९५९.

* *पुस्तकालयाध्यक्ष, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी-२२१००५*

५. हिन्दी अनुवाद, अनुवादक- अमोलकऋषि जी, हैदराबाद, वी०सं० २४४६.

६. मूल, छोटेलालमणि, जीवन कार्यालय, अजमेर, १९३६.

७. मूल, हिन्दी अनुवाद, संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना।

८. हिन्दी व्याख्या सहित, सम्पा०-मुनि मिश्रीमल जी मधुकर, आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, राज० १९८७.

९. हिन्दी अनुवाद, अनुवादक- मुनि उमेशचन्द, सैलाना, १९६४.

१०. मूल, गुजराती अनुवाद, अनुवादक- मुनि दीपरत्नसागर जी, आगमदीप प्रकाशन, अहमदाबाद, सन् १९९७.

११. आगमसुत्ताणि (मूल), मुनि द्वीपरत्नसागर, आगमश्रुत प्रकाशन, अहमदाबाद, सन् १९९५.

१२. आगमसुत्ताणि, मूल, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी, वृत्ति, मुनिदीपरत्नसागर, आगमश्रुत प्रकाशन, अहमदाबाद, सन् २०००.

१३. उवंगसुत्ताणि, खण्ड १, सम्पा०-आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं (राज०), ई० सन् १९९७.

१४. आगमसुधा-सिन्धु भाग-५, सम्पा०-जिनेन्द्र विजयगणि, हर्षपुष्पामृत जैन टेक्स्ट सोसाइटी, लाखावावल, ई० सन् १९७७.

१५. सम्पा०-रतनलाल दोसी, ए० वी० साधुसंघ, सैलाना।

१६. अंग्रेजी अनुवाद- के० सी० लालवानी, सम्पा०-गणेश लालवानी, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर; जैन श्वेताम्बर नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ मेवानगर, ई०सन् १९८८.

राजप्रश्नीयसूत्र

राजप्रश्नीय जैन आगमों का दूसरा महत्त्वपूर्ण उपांग है। इसमें कुल २१७ सूत्र हैं। प्रथम भाग में सूर्याभदेव महावीर के सामने उपस्थित होकर नृत्य करता है और अनेक प्रकार का नाटक करता है, इसमें उसके विमान का विस्तृत विवेचन किया गया है। दूसरे भाग में पार्श्वनाथ के प्रमुख शिष्य केशीकुमार और श्रावस्ती के राजा प्रदेशी के मध्य जीव-अजीव विषय में संवाद है। राजा प्रदेशी जीव और शरीर को

अभिन्न मानता है और केशीकुमार उसके मत का खण्डन करते हुए जीव के स्वतंत्र अस्तित्व हेतु प्रमाण उपस्थित करते हैं। इसके प्रकाशित संस्करण निम्न हैं-

१. मलयगिरि टीका, धनपति सिंह, कलकत्ता, सन् १८८०.

आगमोदय प्रकाशन समिति बम्बई, १९२५.

गुर्जर ग्रन्थरत्न कार्यालय, अहमदाबाद, वि. सं. १९९४.

२. हिन्दी अनुवाद, अनुवादक- अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी. सं. २४४५.

३. संस्कृत व्याख्या एवं गुजराती अनुवाद, अनुवादक- मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, ई० सन् १९६५.

४. **अ.** गुजराती अनुवाद बेचरदास जीवराज दोशी, लाधाजी स्वामी पुस्तकालय, लिम्बड़ी, ई० सन् १९३५.

ब. गुर्जर ग्रन्थ कार्यालय, अहमदाबाद, वि०सं० १९९४.

५. उवंगसुत्ताणि मूलपाठ, पाठान्तर सहित तथा अन्त में शब्द-सूची, सम्पा०-युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं, (राज०) १९८७.

६. आगमदीप, भाग ३, गुजराती अनुवाद, अनुवादक- मुनि दीपरत्नसागर, आगमदीप प्रकाशन अहमदाबाद, १९९७.

७. आगमसुत्ताणि, भाग १३, मूलपाठ- मुनि दीपरत्न सागर, आगमदीप प्रकाशन, अहमदाबाद, १९९५.

८. आगमसुत्ताणि सटीक, भाग ८, मूल, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, वृत्ति, सम्पा०- मुनि दीपरत्नसागर जी, आगमश्रुत प्रकाशन, अहमदाबाद, ई० सन् २०००.

९. हिन्दी व्याख्या, सम्पा०-मुनि मिश्रीमल जी मधुकर, आगम प्रकाशन समिति, व्यावर (राज०) ई० सन् १९८७.

जीवाजीवाभिगमसूत्र

यह ग्रंथ जैन आगम का तीसरा उपांग है। इसमें महावीर द्वारा गौतम गणधर के प्रश्नों के उत्तर के रूप में जीव और अजीव के भेद-प्रभेदों का विस्तृत वर्णन है।

इसमें ९ प्रकरण और २७२ सूत्र हैं। तीसरा प्रकरण सब प्रकरणों से बड़ा है जिसमें देव, द्वीप और सागर का वर्णन है। मलयगिरि के अनुसार यह ग्रन्थ 'स्थानांग' का उपांग माना जाता है। इसके निम्न प्रकाशित संस्करण हैं -

१. मलयगिरिवृत्ति, देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई, सन् १९१९.

२. हिन्दी अनुवाद- अमोलकऋषि, हैदराबाद, वी०सं० २४४५.

३. मलयगिरिवृत्ति एवं गुजराती अनुवाद, अनुवादक- धनपति सिंह, अहमदाबाद, (मुर्सिदाबाद), सन्-१८८३.

४. उवंगसुत्ताणि, खण्ड १, मूलपाठ एवं पाठान्तर तथा शब्द-सूची, सम्पा०- युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती संस्थान लाडनूं, (राज०) ई० सन् १९८७.

५. आगमदीप, भाग-४, गुजराती अनुवाद, अनुवादक- मुनि दीपरत्नसागर, आगमदीप प्रकाशन, अहमदाबाद, ई. सन्. १९९५.

६. आगमसुत्ताणि, मूलपाठ, भाग १४, सम्पा०- मुनि दीपरत्नसागर जी, आगमश्रुत प्रकाशन अहमदाबाद, ई० सन् १९९५.

७. आगमसुत्ताणि, भाग-९, सम्पा०- मुनि दीपरत्नसागर जी, आगमश्रुत प्रकाशन अहमदाबाद, ई० सन् २०००.

८. हिन्दी व्याख्या सहित, सम्पा०-मुनि मिश्रीमल जी मधुकर, आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, (राज०)

९. हिन्दी अनुवाद- लाला सुखदेव सहाय ज्वाला प्रसाद जौहरी, हैदराबाद-१९२०.

१० हिन्दी-गुजराती अनुवाद (तीन भाग), अनुवादक- मुनि घासीलाल जी, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट १९७१-१९७५.

११. आगमसुधा-सिन्धु, भाग ५, जिनेन्द्र विजयगणि, हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, लाखावावल, १९७७.

प्रज्ञापनासूत्र

प्रज्ञापना जैन आगमों का चौथा उपांग है। इसमें ३४९ सूत्रों में निम्नलिखित ३६ पदों का प्रतिपादन है- प्रज्ञापना, स्थान बहुवक्तव्य, स्थिति, विशेष, व्युत्क्रान्ति,

उच्छ्वास, संज्ञा, योनि, चरम, भाषा, शरीर, परिणाम, कषाय, इन्द्रिय, प्रयोग, लेश्या, कार्यस्थिति, सम्यक्, अन्तक्रिया, अवगाहना, संख्यान, क्रिया, कर्म, कर्मबन्धक, कर्मवेदक, वेदवन्धक, वेदवेदक, आहार, उपयोग, पश्यता, दर्शनता, संज्ञा, संयम, अवधि, प्रविचारणा, वेदना और समुद्धता। इन पदों का विस्तृत वर्णन महावीर द्वारा इन्द्रभूति गौतम के प्रश्नोत्तर के रूप में किया गया है। जिस प्रकार अंगों में 'भगवतीसूत्र' सबसे बड़ा है, वैसे ही उपांगों में 'प्रज्ञापनासूत्र' सबसे बड़ा है। प्रज्ञापना के प्रकाशित संस्करण निम्न हैं-

१. मलयगिरिविहित विवरण, रामचन्द्रकृत संस्कृत छाया, परमानन्दर्षिकृत स्तवन के साथ, धनपति सिंह, बनारस १८८४.

२. मलयगिरि टीका, आगमोदय समिति, बम्बई सन् १९१८-१९.

३ हिन्दी अनुवाद, अनुवादक-अमोलक ऋषि हैदराबाद, वी० सं० २४४५.

४. मलयगिरि टीका गुजराती अनुवाद, अनुवादक-भगवानदास हर्षचन्द्र जैन सोसाइटी, अहमदाबाद, वि० सं० १९९१.

५. हरिभद्र विहित प्रदेश व्याख्या, ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था तथा जैन पुस्तक प्रचारक संस्था, सन् १९४७, १९४९.

६. पण्णवणासुत्तं (तीन भाग) मुनि पुण्यविजयजी, श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, सन् १९७१.

७. प्रज्ञापना प्रदेश (उत्तर भाग)- जैन पुस्तक प्रचारक संस्था सूर्यपुर, ई० सन् १९४९.

८. उवंगसुत्ताणि, खण्ड २, मूलपाठ एवं पाठान्तर तथा शब्द-सूची सम्पा०-युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं, (राज०), ई० सन् १९८९.

९. आगमदीप, भाग-४, गुजराती अनुवाद, अनुवादक- मुनि दीपरत्नसागर आगमदीप प्रकाशन, अहमदाबाद, ई० सन्. १९९७.

१०. आगमसुत्ताणि, भाग १४ मूलपाठ, सम्पा०- मुनि दीपरत्नसागर जी, आगमश्रुत प्रकाशन अहमदाबाद, ई० सन् १९९५.

११. आगमसुत्ताणि, भाग १०, मूल, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, वृत्ति, सम्पा०-मुनि दीपरत्नसागरजी, आगमश्रुत प्रकाशन, खानपुर, अहमदाबाद।

१२. हिन्दी व्याख्या- ४ भाग, सम्पा०- मुनि मिश्रीमल जी मधुकर, आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, (राज०) १९८८.

१३. हिन्दी-गुजराती अनुवाद, अनुवादक- मुनि घासीलाल जी, जैन शास्त्रोद्धार समिति राजकोट, १९७४.

१४. आगमसुधा-सिन्धु, भाग ५, जिनेन्द्र विजयगणि, हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, लाखावावल-१९७६.

सूर्यप्रज्ञप्ति-चन्द्रप्रज्ञप्ति

सूर्यप्रज्ञप्ति और चन्द्रप्रज्ञप्ति क्रमशः छठा-सातवां उपांग है। कई ग्रन्थों में सूर्यप्रज्ञप्ति को पांचवा तथा चन्द्रप्रज्ञप्ति को सातवां उपांग कहा जाता है। सूर्यप्रज्ञप्ति एवं चन्द्रप्रज्ञप्ति को हम गणित, ज्योतिष, भूगोल व खगोल का महत्त्वपूर्ण कोश कह सकते हैं। सूर्यप्रज्ञप्ति में सूर्य आदि ज्योतिष्क चक्र का वर्णन है, इसमें एक अध्ययन, २० प्राभृत, उपलब्ध मूलपाठ २२०० श्लोक परिमाण है। गद्यसूत्र १०८, पद्यगाथा १०३ है। चन्द्रप्रज्ञप्ति में चन्द्रज्योतिष्क चक्र का वर्णन है। इनके प्रकाशित संस्करण निम्न हैं-

१. मलयगिरिवृत्ति- आगमोदय समिति, बम्बई, ई० सन् १९१९.

२. मूल (रोमनलिपि) J.F. Kohl, Stuttgart, 1937.

३. हिन्दी अनुवाद, अनुवादक- अमोलक ऋषि हैदराबाद, वी० सं० २४४५.

४. हिन्दी-गुजराती अनुवाद, अनुवादक- मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट १९७३.

५. उवंगसुत्ताणि, खण्ड १, सम्पा०- आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं, (राज०), ई० सन् १९८७.

६. हिन्दी व्याख्या, सम्पा०- मुनि मिश्रीमल जी मधुकर, आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, १९८५.

७. आगमदीप, भाग-४, गुजराती अनुवाद, अनुवादक- मुनि दीपरत्नसागर आगमदीप प्रकाशन, अहमदाबाद।

८. आगमसुत्ताणि मूल, सम्पा०- मुनि दीपरत्नसागर, आगमश्रुत प्रकाशन, अहमदाबाद, (गुज०)।

९. आगमसुत्ताणि, भाग १०, मूल, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, वृत्ति, सम्पा०- मुनि दीपरत्नसागर, आगमश्रुत प्रकाशन, खानपुर, अहमदाबाद।

१०. आगमसुधा-सिन्धु, भाग ७, जिनेन्द्र विजयगणि, हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, लाखावावल-१९७८.

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति को कहीं पांचवां तो कहीं छठा उपांग माना गया है। इस ग्रन्थ में केवल एक अध्ययन तथा सात वक्षस्कार हैं। इसमें मूलपाठ के ४१४६ श्लोक हैं, १७८ गद्यसूत्र और ५२ पद्यसूत्र है। इस ग्रंथ में भारतवर्ष तथा राजा भरत का वर्णन है। यह ग्रन्थ 'ज्ञाताधर्मकथा' का उपांग माना जाता है। गौतम इन्द्रभूति और महावीर के प्रश्नोत्तर के रूप में इसकी व्याख्या की गयी है। इस ग्रन्थ पर मलयगिरि ने टीका लिखी थी लेकिन वह कालदोष से नष्ट हो गयी। उसके बाद बादशाह अकबर के गुरु हीरविजयसूरि के शिष्य शान्तिचन्द्र वाचक ने अपने गुरु की आज्ञा से 'प्रमेयरत्नमंजूषा' नाम की टीका लिखी। यह ग्रन्थ पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्ध दो भागों में प्रकाशित हुआ। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के प्रकाशित संस्करण निम्न हैं-

१. शान्तिचन्द्र विहित वृत्ति सहित, देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई, सन् १९१०.

२. धनपति सिंह, कलकत्ता १८८५.

३. हिन्दी अनुवाद- अमोलक ऋषि, हैदराबाद, १९२०.

४. हिन्दी-गुजराती अनुवाद- मुनि घासीलालजी, जैन शास्त्रोद्धार समिति राजकोट १९१७.

५. उवंगसुत्ताणि, भाग-४, सम्पा० आचार्य महप्रज्ञ, जैन विश्वभारती,लाडनूं १९८९.

६. हिन्दी अनुवाद- मुनि मिश्रीमल जी मधुकर, आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, राजस्थान, १९८६.

७. आगमसुत्ताणि, भाग १८, सम्पा० मुनि दीपरत्नसागर जी आगमदीप प्रकाशन संस्था, अहमदाबाद, १९९५.

८. गुजराती अनुवाद, भाग ५, सम्पा० मुनि दीपरत्नसागर जी, आगमदीप प्रकाशन संस्था, अहमदाबाद, (गु०) १९९७.

निरयावलिकासूत्र

निरयावलिका श्रुतस्कन्ध में पांच उपांग समाहित हैं- १. कल्पिका २. कल्पावतंसिका ३. पुष्पिका ४. पुष्पचूलिका ५. वृष्णिदशा। विद्वानों का मत है कि ये पांचो भाग निरयावलिका के ही रूप में समाहित थे। बाद में बारह अंगो का सम्बन्ध स्थापित करते समय उन्हें पृथक् किया गया। जिस भाग में नरक में जाने वाले पांच जीवों का पंक्तिबद्ध वर्णन हो वह निरयावलिका है।

निरयावलिका में पांच वर्ग हैं। प्रथम वर्ग (कल्पिका) में दश अध्ययन हैं- काल, सुकाल, महाकाल, कण्ह, सुकण्ह, महाकण्ह, वीरकण्ह, रामकण्ह, पिउसेनकण्ह, महासेनकण्ह।

द्वितीय वर्ग में कल्पवतंसिका में दश अध्ययन हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं- पउम, महापउम, भद्द, सुभद्द, पउमभद्द, पउमसेन, पउम गुल्म, नलिनी गुल्म, आणंद और नंदन।

तृतीय वर्ग पुष्पिका में दश अध्ययन हैं- चन्द्र, सूर्य, शुक्र, बहुपुत्रिक, पूर्ण भद्र, मणिभद्र, दत्त, शिव, वलेपक और अनादृत।

चतुर्थ वर्ग का नाम पुष्पचूला है। इस वर्ग में भी दश अध्ययन हैं जिनके नाम क्रमशः हैं- श्री देवी, ह्री देवी, धृति देवी, कीर्ति देवी, बुद्धि देवी, लक्ष्मी देवी , इला देवी, सुरा देवी, रस देवी और गन्ध देवी।

पंचम वर्ग का नाम वृष्णिदशा है इसमें बारह अध्ययन हैं- निसध कुमार, मायनी कुमार, वहकुमार, वेधकुमार, सप्तधनु कुमार, दशधनु कुमार और शतधनु कुमार। इनके प्रकाशित संस्करण निम्न हैं -

१. चन्द्रसूरिकृत वृत्ति सहित, आगमोदय समिति, सूरत सन् १९२२.

२. चन्द्रसूरिकृत, बाबू धनपत सिंह का आगम संग्रह, मुर्सिदाबाद, १८८५.

३. प्रस्तावना के साथ P.L Vaidya, Poona, 1932; A.S. Gopani and V.J. Chokshi, Ahmedabad. 1943.

४. हिन्दी अनुवाद, अमोलक ऋषि जी, हैदराबाद, १९२०.

५. गुजराती अनुवाद, जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर- १९३४.

६. हिन्दी अनुवाद, सम्पा०- मुनि मिश्रीमल जी मधुकर, आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, राजस्थान, १९८५.

७. उवंगसुत्ताणि, भाग ४, खण्ड-२, सम्पा० आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती संस्था, लाडनूं, राजस्थान १९८९.

८. आगमसुत्ताणि- भाग-१९, सं० मुनि दीपरत्नसागर आगमश्रुत प्रकाशन, अहमदाबाद, १९९५.

९. गुजराती अनुवाद, आगमदीप, भाग-५ अनुवादक- मुनि दीपरत्नसागर, आगमदीप प्रकाशन, अहमदाबाद, गुजरात, १९९७.

*

ENGLISH SECTION

- Concept of Omniscience in Jainism — Dr. S.P. Pandey
- Contribution of Śramaṇa Tradition to Indian Culture — Dr. B.N. Sinha
- Jahangir's relation with Spiritual Jaina Leaders — Dr. Nirmala Gupta
- Jainism and Meat-Eating — M.V. Shah
- Towards World Peace on the Wheels of 'Anekāntavāda and Syādvāda' — Dr. Jaya Singh

Śramaṇa, Vol. 58, No. 2-3
April-September 2007

Concept of Omniscience in Jainism

Dr. S.P. Pandey*

The problem of Omniscience (Sarvajñatā)

The problem of omniscience has been a matter of abiding interest for Indian philosophy. It is an attribute, which, like omnipotence *(sarvaśaktimāna)*, and Omnipresence (*Sarva-gatatva),* is considered a prerogative of God. The germinal concept of omniscience can be traced back to the Vedas where Varuṇa sits looking at all. The frequent use of adjectives like *viśvavid*[1], *viśvavidvān*[2], *viśvacākṣu*[3] and *sarvavit*[4] by Vedic seers for their deities shows that they were well acquainted with this concept. We do not come across with the term *sarvajña* until the period of *Muṇḍakopaniṣat,* where this very term is used for Brahman, the Absolute " from whom this, namely the *saguṇa* Brahma, comes to birth as name, form and food''. In the *Māṇḍūkyopaniṣad*[5], and in the literature of the subsequent periods, the term comes to be use exclusively to describe the Īśvara of philosophical systems like Yoga,[6] Nyāya and Vaiśeṣika, as well as the Purāṇic trinity of Brahmā, Viṣṇu and Maheśa (Śiva). However, the Upaniṣads also employ the term in a metaphorical sense, where it becomes a synonym for *Brahmajña* or *Ātmajña*[7], the knower of the eternal self. The Upaniṣadic seers are greatly preoccupied with the search for ''that One thing by the knowledge of which all this is known''[8], and in keeping with their predilection for a monistic world-view, proclaim that the knower Brahman knows all, indeed becomes All. It is a truism that there must be somebody to acquire or possess the omniscience that necessarily must be endowed with personality. The notion of human omniscience is completely absent in western thoughts, where only God is described as omniscient. In Indian thought, this concept has been attributed to super human subjects

* *Asst. Director, Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi*

like Gods, deities' etc. Particularly with Yoga, this concept has been much associated. The liberated souls like the *Arhats*, *Buddhas*, *and Jīvana-muktas* are also described in Indian philosophy as omniscient being. It is perhaps because the notion of a liberated being implies the idea of perfection and since omniscience is perfection of knowledge, it has been associated with him. It is obvious that in any doctrine of theism, monotheistic, pantheistic or even monistic, a human being, however great, may not be designated as *sarvajña* in its primary sense, since such a designation could put him alongside God himself.[9]

Paradoxical as it may seem, the claimants of an omniscient being (*sarvajña*) are to be found not only in the theistic, but also in professedly atheistic schools, namely Jainism and Buddhism, the two main streams of *Śramaṇic* culture.

Vardhamāna Mahāvīra, the last of the twenty-four Tīrthaṅkaras of the Jains, and Siddhārtha Gautama, the founder of the Buddhism, appear top represent the only two recorded cases of human beings who have claimed such a distinction; this claim is certainly a unique phenomenon in the entire history of human civilization. The Jaina and Buddhist scripture provide indisputable evidence that the followers of these two religious leaders not only accepted their claims to omniscience, but also considered omniscience to be the very essence of enlightenment, which enabled them to enunciate their respective paths of salvation. Thus the term *Sarvajñatā* is found both in Vedic as well as non-Vedic sources, which date long before the canonical scripture, came into existence. This is also because the Hindu, Buddhists and Jainas believe in the eternality of their respective religions, taught at different cycle of time by their sages/prophets called as *Avatāras, Buddhas* and *Tīrthaṅkaras*, the omniscient beings.

Omniscience: Misconception and Clarification

The word 'omniscience' and its derivatives have many Indian equivalents and their occurrences are found in almost all-classical Indian languages like Sanskrit, Pāli, Prakrit, etc. There is a striking parallel between 'Omniscient' and '*Sarvajña*'. Important lexical works enumerate a number of synonyms for omniscient and *Sarvajña* because

the Latin '*omnis*'[10] corresponds to the Sanskrit '*sarva*'. Etymological meaning of *Sarvajña* is' one who knows everything. Even in ancient Indian languages like Sanskrit, Pāli, Prakrit, etc. there are many equivalents of the term '*Sarvajña*', but the most commonly used term is '*Sarvajña*' itself. The etymological meaning of '*Sarvajña*' is governed by a particular rule according to which the affix '*ka*' comes after a verbal root that ends into long ā, when there is no prefix preceding it and when the object is in composition with it (*ato-anupsarge ka*)[11]. As the Pāli and Prakrit grammars practically follow the rules of Sanskrit, the dictionary meaning of other important European languages like German[12], Russian[13], Italian[14], Spanish[15], French[16], English, etc. are generally grounded on the Latin meaning. Thus literally, the term 'omniscience' means 'all knowledge' or 'knowledge of all'. But the term 'all' and 'knowledge' are used or can be used in different contexts. Similarly the term 'omniscient' has got both straightforward and idiomatic meanings. When we call a man 'omniscient 'we do not mean that he knows every thing, we simply mean that he is very learned and he knows a lot. Thus, there is a distinction between the 'strict' and hyperbolic meanings of the term. Then there are special meanings also that are determined by the philosophical and cultural background of a particular system. It is clear that the lexical works do help to determine the meaning of a term but they cannot finally decide the meaning because they report only the existing usages. While retaining the lexical identity, the term may have different connotations, hence the meaning of the term 'omniscience also differ accordingly. For example, the man who knows the word 'all' may be 'all knowing' in name. It means that the man who knows the meaning of 'all' will also know what it signifies. The meaning of the term depends upon human stipulation. Secondly, one may be called 'omniscient' if he knows every thing of a given context (for example, the names of all dramas of Kālidāsa and Shakespeare). This is precisely the hyperbolic or idiomatic meaning, when a versatile genius or highly learned man is described as 'omniscient'[17]. A third meaning of 'all' may be understood in the

sense of the epitome of the world included under the two categories -positive and negative[18]. But this is very vague and not exhaustive in particular detail. Then we may delimit the term 'all' in a particular system hence the meaning of the term is bound to vary from system to system. For instance, to the Buddhists, 'omniscience' will mean knowledge of *Pañcaskandhas*, to the Vaiśeṣika that of the seven categories, to the Naiyāyikas that of the sixteen categories, to the Sāṁkhyas that of the twenty-five principles, and so on. To get rid of this difficulty, one may say that the term 'all' stands for the object of the cognition [19]. But then Mīmāṁsakas may object that there are supra-sensible things like *dharma* and *adharma*, which cannot be cognized by the six means of cognition[20]. The Jainas restrict the application of the term as the knowledge of 'all substance with all their attributes and modes in all times and in all places'. In Jainism, *Sarvajña* denotes a person having perfect knowledge *(Kevala-jñāna).*

Analysis of the meaning of the term 'Omniscience'

If we suppose that omniscience means the knowledge of 'all substance with all their attributes and modes in all times and in all places', the question arises whether omniscience is false or true knowledge? If it is false, it is seer non-sense but if it is true, then it is knowledge of only the important things or of all things. If it is the former, it is not omniscience in the sense under study. If it is latter, it raises a further question: is it the knowledge of all the objects without or with their attributes? First alternative cannot be accepted. Thus the alternative is accepted which will imply 'knowledge of objects with their attributes'. Is such knowledge successive or simultaneous? If it were successive there can be no omniscience for all the objects with all attributes and modes at all places and all times can never be exhausted. But if it is taken to be simultaneous, there crops yet another difficulty: Is such a simultaneous knowledge obtained by a single act of cognition or by a series of cognitions? The first alternative is unacceptable since then it would be impossible to distinguish between contradictory things and characteristics like heat and cold simultaneously through the act of one single cognition.

But if it is known through a single supernormal cognition brought about by communion, then there can be no means of cognition to assure for such knowledge because it is not produced either by perception, inference or authority. In second alternative question again remains whether it is actual or possible? If it were actual it would be difficult to conceive a state of knowledge obtained through several cognitions covering even mutually contradictory things. Then it is impossible to apprehend even in hundreds of thousands of years each one of the innumerable things and thus characteristics of all places and at all times. But if such knowledge is only possible, we are again confronted with another problem. If it is possible to know all things and their attributes simultaneously, nothing will remain to be known by the omniscient being. In that case after having the knowledge, he would behave as an unconscious being, since he will have left nothing to cognate. Then another question arises whether by the omniscient, the past and future will be known as present or as they are, i.e. the past as past and future as future. If we accept the first alternative, distinction of time will be lost because the past and future will merge into the immediate present. But if we accept the second alternative, it will imply that the omniscient being cognize the past and the future, which are at present non-existent. Thus in both cases our knowledge will be illusory and wrong[21]. Thus after examining the different senses of omniscience followings are the pre-requisites to make the concept of omniscience workable:

First, it should be regarded as a true and valid knowledge, for if it is false, it would be only illusory. Secondly, it should not be regarded merely as a potential but as actualized knowledge. Thirdly, it cannot be indirect knowledge like inference or even direct knowledge like sense perception. Fourthly, it cannot be either successive or obtainable through the help of more than one cognition, because in the former case, it can never be complete, while in the latter the same omniscient person will have to contain several cognitions, some of which will even be contradictory. Fifthly, omniscience must mean the knowledge holding good for all the places for all the times. Sixthly, it must mean knowledge of all things with all their attributes.

Seventhly, since it is knowledge of all things, it must naturally include the knowledge of the reality and knowledge of the duty.

Omniscience in Indian Background:

The Cārvāka Materialist

Cārvāka (*Lokāyata*) system totally denies the existence of any omniscient being because according to them perception (*Pratyakṣa*) alone is the only source of knowledge. The Lokāyatas flatly deny the existence of the disembodied soul[22], God[23], *Paraloka* (any other world) and *Karmaphala*[24] (fruition of *Karma*) etc. Since, being a materialistic, they do not believe in any individual soul or god from the substratum of omniscient knowledge, there is no question of accepting the theory of omniscience.

The Indian Skeptics and Agnostics

The *Sūtrakṛtāṅga*[25] mentions another system known as *Ajñānavādins*, the agnostics. They are identified with Sañjaya and his school. The tendency of Sañjaya's teaching was skeptical or agnostic, based on studious evasion or suspension of judgments over the metaphysical questions. It is natural to expect them that agnostics and skeptics will never accept the concept of omniscience. They do not believe in any super-normal cognition, but assert that its scope is limited. There is no cognition with unlimited area; hence, there is no concept of omniscience.

The Mīmāṁsakas View

The Mīmāṁsakas object the idea of omniscience either of God or of man, partly on metaphysical but mainly on religious ground. Mīmāṁsakas are very particular about the supreme authority of Vedas. In accepting the idea of omniscience, they are very cautious that the authority of Veda is not violated. Śābara opines that only through Veda the objects that are past, present, future, minute, obstructed or distant can be known. No sense organ can approach them. They believe that only performance of a set of certain rituals can guarantee the realization of the highest good of life." when an action is performed, there arises in the soul of the performer a certain potential energy, in

the shape of a particular property or character, that, at the future time, brings about an eminently satisfactory result; and if the potential energy that is called '*Dharma*', *Puṇya, Śubhādṛṣṭa* and so on " There is no means of knowing the *Dharma* except through the Vedic injunctions. It cannot be subject of sense perception as senses are restricted to the present. Kumārila establishes reign of *Dharma*, which, is universal, eternal and unchangeable and can be known only through the Veda. Kumārila does not deny the possibility of omniscience in other matters except *Dharma*. He holds that if omniscience means a person, who knows all things except *Dharma* and *Adharma*, and then there is nothing wrong with it. So far as the meaning of omniscience (*Sarvajñatā*) is concerned he agrees that omniscience means the cognition of the entire universe. He differs only on the point of *Dharma* and *Adharma*, which an omniscient cannot know. He says" if there really existed a person knowing all things, through all the six means of knowledge, how could such a person be denied? But if such a person be assumed to be knowing all things by a single means of knowledge i.e., perception, such a person would doubtlessly perceive taste and all other objects, by the means of sense organs alone."[26] Kumārila is keen to establish that in the matter of *Dharma*, Veda is the soul authority. Even it be supposed to be composed by Buddha, he cannot be expected to present everywhere and to guide the mankind. Further, if there are so many omniscient persons, all the omniscient will preach contradictory doctrines and the ground of reliability being the same in all, it will be difficult to decide which one of these should be accepted or rejected. Moreover, if Buddha is omniscient, then what is proof for Kapila not being so? If both are omniscient then how is it that there is difference of opinion between them? Therefore, refuting all the divine omniscience he simply interprets his so-called omniscience in the term of ' self-knowledge'.

Jainas hold that the knowledge of an omniscient is perceptual and purely spiritual but Mīmāṁsā believe that it is indirect based on the authority of Veda. So the concept of omniscience of Mīmāṁsā can be compared to the *Śruta-kevalī* of Jainas.

The world creator and omniscience: The Nyāya-Vaiśeṣika View

It is in the Nyāya and the Vaiśeṣika system of philosophy that we find the theory of an omniscient and all-powerful God clearly stated and supported. Refuting the idea of omniscience of *Arhat* they say ' it is not proper to attribute Omniscience to the Arhat, because Omniscience can be possible only in the Divine Architect (Śiva) who has formed the earth, the mountain and other things of the world.[27] They admit that the *Adṛṣṭa* or the force due to their acts is the cause of the *Jīva's* transmigration in the world. They posit an infinite number of material atoms, as the material basis of the universe. According to Naiyāyikas, the God, the creator, is necessarily omniscient. He makes such a body and such environments for each soul as are exactly in accordance with its *Adṛṣṭa*. According to Nyāya and Vaiśeṣika systems, there are two types of omniscience-omniscience of God and the omniscience of *Yogin*. The omniscience of God is eternal as it is neither produced nor destroyed. The omniscience of *Yogin* is a kind of supernatural power obtained through yogic practices. But this power is not the manifestation of a natural property of the soul as the Jainas hold; rather they are acquired embellishment; which vanishes after a certain period. Omniscience, according to Jainism is the pre-requisite of emancipation (*Mokṣa*), without obtaining it no one can aspire to the state of emancipation. Nyāya-Vaiśeṣika holds that omniscience is independent from emancipation. All the *Yogins* do not necessarily obtain that power before attaining liberation. They hold that in state of liberation cognition is totally absent. On the other hand, Jainism holds that all the liberated souls are omniscient and are always with perfect knowledge.

Jainas repudiate the theory of God as the first cause or Architect of the universe. They point out the two aspects of a thing viz. substance and modes. Jainas contend that things of the universe e.g. earth, water etc. are certainly uncreated and eternal, so we cannot talk of any causes bringing them into existence. Objecting to the theory of an omniscient-creator of the things of the universe, they

argue that no such intelligent being is even an object of our perceptual observation. The contention that the creator is an imperceptible being, just as fire within the hill, which is inferred from the observation of the smoke, is unseen, is also unsound. For, the fire in itself is not imperceptible: it is not observed, as there is some obstacle. So the analogy does not hold good in the case of the creator, who is supposed to be an essentially imperceptible being. Lastly, the Jainas point out that although a thing may have a beginning, it may not have an intelligent creator. The things of the universe are so very different from the man made things that it is unreasonable to suppose the creator of those to be an intelligent being. If thus, there is no creator of the things of the universe, the theory that the creator is the only omniscient being, falls to the ground.

The Cosmic being and Omniscience: the Vedānta view:

The followers of the qualified monism of the Vedānta School maintain that in spite the essential difference Brahma and the world, the finite souls and the material universe are moved in accordance with the will of the Brahma. It can easily be inferred that such Brahma is omniscient like the Īśvara of the Naiyāyikas. The *māyāvādin* Vedāntists notwithstanding their absolute monism admit the practical reality of a determined (*Saguṇa*) Brahma at the basis of the empirical world: this Brahma is admitted to be omniscient. In Vedānta the knowledge has been identified with liberation, as we find in the dictum "to know is to become Brahman". The absolute Brahman is neither omniscient nor ignorant. It is pure intelligence. Another type of omniscience held by Vedānta is related with *Yogins*. It is perishable and not essential to liberation.

The Buddhists View:

The Buddhists attitude to omniscience is practical and not metaphysical. Here we meet with a bewildering variety of meanings in different Buddhist school for the term *Sarvajña-* as *bodhi, Samyak-smbodhi, tevijja, sabbāṇuta-nāṇa, Buddha-cakkhu, anāvaraṇa-nāṇa, sarvākāra-jñāta, prajñā-pāramitā,* etc. The problem is rendered even

more complex by the refusal of even the Hīnayāna School to apply these terms to the *Arhats,* who also were believed to have attained *Nirvāṇa*, and was therefore, as free from *saṁsāra* as their Omniscient Master. Whatever be the precise difference between the status of an *Arhat* and a *Buddha*, even a causal study of the Buddhist scriptures would show that the Buddha's 'omniscience' was of a different kind than that of Mahāvīra and that the Buddhists, aware of this difference, altered their interpretations in order to minimize it. The use of word *sabbaññuta-ñāṇa* is highly significant as it distinguishes the Buddha's enlightenment from the ordinary yogic perception like clairvoyance and telepathy and clearly identifies it with nothing less than omniscience. It equates *Sarvajñatā* with *Mārgajñatā.* According to Buddhism, the knowledge of ultimate truth is attained through constant contemplation on the four Noble truths. When contemplation reaches to its highest and most perfect stage, the aspirant has a most distinct vision; of these truths which is perceptual not conceptual. Śāntarakṣita maintains that knowledge (*prajñā*) means the cognition of *Dharmas.* It is incomplete as long as even a single *Dharma* remains unknown. The Buddhists meant by complete knowledge the knowledge of virtues and vices or the things that are desirable and undesirable. Dharmakīrti says that it does not matter whether a person does or does not apprehend all the objects. He, ridiculing the idea of total omniscience asks that what is the use of knowing the infinite number of insects and worms for our spiritual realization and advocates that true knowledge consists in the knowing about what is desirable and what is not along with their causes, e.g. the four noble truths of Buddha. Dharmakīrti's omniscience Being is the unapproachable limit of human cognition.[28]

Omniscience in Sāṁkhya-Yoga system

The Sāṁkhya-Yoga system gives a vivid description of the stages attained by an aspirant along with supernatural powers, which he comes to possess. Omniscience is also one of the supernatural powers. According to *Yogabhāṣya, vivekakyāti* is the highest goal of human pursuit, which is attained through *Aṣṭāṅgayoga* i.e. *Yama,*

Niyama etc. The last stage is *Asamprajñāta-samādhi:* where the mind is without any content. On reaching this stage one realizes the distinction between Prakṛti and Puruṣa and attains liberation, without further delay. *Śraddhā* (mental cheerfulness of hope), *Vīrya* (courage and energy leading to firmness), *Smṛti* (memory), *Samādhi* (meditation) and the *Prajñā* are the five means to attain the stage of *asamprajñāta-samādhi*. Vedānta School of thought holds that *Kaivalya* and *Sarvajñatā* are two different things. *Kaivalya* is a state of liberation where the cognition of worldly things is absent. On the other hand *Sarvajñatā* is a lower stage where the soul and matter are not absolutely separated. In Sāṁkhya, system knowledge is considered as the function of *Buddhi*, which is the evolutes of Prakṛti. The question of omniscience in no way stands with Puruṣa. When the *Buddhi* obtains purity by removing the dirt of *tamas* and *rajas*, and the property of pure *sattva* is manifested, the aspirant attains the highest state of *Vaśīkārsaṁjñā*, the state of perfect self-control; only then the omniscience is obtained. This state of *Vaśīkārsaṁjñā* can be compared with the state of *Vītarāga* as held by the Jainas. The Sāṁkhya does not believe in the God. Yoga though it believes in the God, but not as creator and destroyer, yet possesses all the virtues that are the ideal of an aspirant. Here the God is held as omniscient but to decide whether the omniscience is quality of *Buddhi* or the extra-ordinary Puruṣa is the omniscient is quite difficult. In latter case it cannot be conceptual.

The ***Tantras*** present the most extensive reading of the Yoga. They declare that an insight and pure life combined with a deep and intense appeal to devotion to the divinity automatically awaken the divine *Śakti* in man. The *Tantra* literature as a whole consists of two divisions- *Kriyā* and *Yoga*. They elaborate rites of worship and the Yogic practices go hand in hand. The Buddhists and Jainas also advocate the existence and utility of Yogic knowledge. Dharmakīrti, Prajñākaragupta, and Haribhadra clearly mention the Yogic perception. Haribhadra compares *anālambana yoga* to *Asamprajñāta-samādhi* of Pātañjala-yoga, which culminates in omniscience.

The Jaina theory of Omniscience:

The Jaina theory of omniscience is the result of an evolutionary process. Both the inner necessity of the Jaina philosophy and the influences of socio-cultural conditions have played important role in its development. The first and foremost reason for the formulation of theory of omniscience in Jainism seems to be religious and cultural. Jainism denies both God and Vedas, but it is nonetheless a religion. Hence, it needed the Tīrthaṅkaras, who would function as the source of its scripture. The Tīrthaṅkaras, in order to be reliable (*āpta*) must be omniscient, the knower of the universal principles (*jñātāraṁ viśvotattvānām*)[29], besides being the spiritual guides and the destroyers of the heap of *karmas*. Jainism maintains that unless Tīrthaṅkara is all knowing, how can he create a reliable *āgama*? In order to ensure the reliability of the omniscience of Tīrthaṅkaras becomes a necessity. Secondly, Jainas did not believe in the efficacy of rites and rituals as a means for spiritual salvation; they accept the path of knowledge, faith and conduct. It is likely therefore that they glorified the concept of omniscience. Thirdly, for Jainas, omniscience is realizable ideal for human being. Fourthly, the Jaina theory of omniscience follows from the Jaina theory of soul as the possessor of four-fold infinite, namely, infinite knowledge, infinite faith, infinite power, etc. It means that the soul is omnipotent and omniscient.

Like any other topic in ancient Indian philosophy, the concept of omniscience is not amenable to a rigorously historical treatment. It is very difficult rather almost impossible to sketch the origin, development and growth of this concept, if it is intended to present the history of its successive modifications and formulations. Pt. Sukhlalji claims that in the beginning, omniscience meant "knowledge of everything conducive to spiritual realization" though not supported by any early canon. Some times the omniscience is also used as identical with self-realization. But omniscience as self-realization is logically very much different from omniscience as conducive to spiritual realization. In the former sense it is the end of life, therefore, it is of intrinsic value. In the latter sense, it is a means to acquisition

of the end; therefore, it is of instrumental value. Any thing can be both means and end but cannot be a means to it. Therefore, it is not feasible to accept that omniscience is both conducive to and identical with self-realization. It seems that the Jainas started with the conception of omniscience as " the knowledge of the means of spiritual realization" and then passed on to omniscience as "self-realization". There is also another sense in which the term 'omniscience 'is used. In this sense, it means the knowledge of the essential principles and not knowledge of concrete details. *Ācārāṅga*[30] says, *"je egaṁ jāṇai se savvaṁ jāṇai* i.e. " He, who knows one, knows all. This passage when read in actual context refers to the knowledge of passions, which obscure right knowledge. The "one" referred to here, therefore, means knowledge of some essential moral principle. Pt. Sukhlalji interprets this as " Right knowledge could be had only if things are known from the points of view of both substance and modes. In other words, Sukhlalji reads into this utterance the view that only he is omniscient who adopts both these points of view. This statement however, has to be distinguished from an analogous statement emphasizing the knowledge of all substances and modes.

In Jaina philosophy, the meaning of omniscience as the knowledge of essential principle is substantially the same as the knowledge of self because the self is regarded as the most essential principle. Therefore, he who knows the soul knows everything. Some important Jaina thinkers like Kundakunda, Pūjyapāda, Yogindu and others hold that the knowledge of the soul underlines the knowledge of everything. *Sthānāṅga-sūtra* suggests that *Ege āyā ege loye* i.e. one soul and one universe is very significant. In *Niyamasāra*, Ācārya Kundakunda says " It is from the practical point of view only that the Omniscient Lord perceives and knows all; from the real point of view, the Omniscient perceives and knows his soul only. A few Jaina thinkers hold that omniscience means knowledge of every thing in full details. Therefore, these are the two important senses, namely, omniscience as knowledge of essentials and omniscience as universal knowledge, which ultimately represents as two opposite views on the subject. Some thinkers subscribe to the view that omniscience is

universal knowledge i. e. complete knowledge of complete details of which the world is composed. The cause of defining omniscience as knowledge of every thing rooted in the religious motive foe exalting the status of Mahāvīra and other Tīrthaṅkaras to the maximum. We have the same notion in Buddhism also where some Buddhists declare Buddha to be the knower of every thing. In addition, this is the psychology behind the attempt to treat omniscience as knowledge of each details of the universe. Jainas believe, as Whitehead holds, that every small particle in the universe is related to the entire universe in space and time. Therefore, one who does not know simultaneously the object of the three senses and in the three *Lokas,* he cannot know even a single substance with its infinite modifications.

From remote past in the history of Jainism, i.e. in the age of the Āgamas coming up to Akalaṅka, Vidyānanda, Prabhācandra, Yaśovijaya and others, there is the tendency to justify this sense of omniscience. Even Kundakunda, Haribhadra and Yaśovijaya in their early writings have supported this view of omniscience as the knowledge of all substance and their modes. The present notion is really in accordance with realistic tone and temper of Jaina metaphysics. Jainas hold that there is no ambiguity in knowledge when it comprehends the entire modes of all the entities, because the universe is an integrated system whose relation is equally real and objective. Dr. Nathmal Tatia, in his work *Studies in Jaina Philosophy* has told that ' symbolically, the relations are links between A and the contents of not-A. This means that the complete knowledge of A implies the complete knowledge of not-A and this is obviously the knowledge of the whole universe. The prominent Jaina logicians like Samantabhadra, Akalaṅka, Prabhācandra, and Vidyānanda, Anantakīrti and others have firm opinion that omniscience must be the simultaneous cognition of all substances of with all of their attributes.

Chronological development of the Concept

To determine properly the chronology of the concept of omniscience is very difficult because, the antiquity of Jaina thought

is traced back to the pre-historical era, of which there is no record except some stray references in Vedas. The schism of Jaina religion in Śvetāmbara and Digambara sect and there parallel separate line of literature where rarely one quote to other, also has been the hindrance in determining the chronology of the very concept. Similarly, lack of historical researches, controversy of the dates of the authors, availability of less authoritative works on Jaina History, absence of proper royal patronage are the main reasons which do not favour in providing sufficient material to determine the chronology of the concept of omniscience.

In the pre-canonical period, which has been presented mostly through legendary history, the omniscience of Mahāvīra was accepted as indisputable. Our earliest and most authentic source for the account of Mahāvīra's attainment of omniscience is the *Kalpasūtra*, the traditional canonical work on the lives of *Jina*. There we learn that *''soon after the death of his parents, Mahāvīra, aged thirty, renounced the life of a householder and became a mendicant (muni) in the order of his predecessor Jina Pārśva. He led the life of an ascetic for a period of twelve years, engaged in severe austerities and deep meditation. Then, during the thirteenth year, in the second month of summer, in the fourth fortnight, on the day called Suvrata, outside of the town called Jṛmbhikagrāma on the bank of the river Ṛjupālikā/ Ṛjuvālikā, not for from an old temple, in the field of the householder Sāmāga, under a Sāla tree, (the venerable one), in a squatting position with joined heels, exposing himself to the heat of the sun, after fasting two and a half days without drinking water, being engaged in deep meditation, reached the highest knowledge and intuition, called Kevala which is infinite, supreme, unobstructed, unimpeded, complete and full''*.[31] This is also evident by the latter works of *Purāṇas* viz. *Padma* of Raviseṇa, *Harivaṁsa* and *Ādipurāṇa* of Jinasena and *Uttara Purāṇa* of Guṇabhadra.

In Jaina cannons- *Ācārāṅga, Sthānāṅga, Uttarādhyayana, Kaṣāyapāhuḍa, Prajñāpanā, Rājapraṣnīya, Bhagavatī, Mahābandha (Mahādhavalā), Āvaśyaka-niryukti* and *Anuyogadvāra* discuss about

Kevala-jñāna (omniscience). However, these canons, except some stray remarks, lack systematic account of the concept. Umāsvāti, in his *Tattvārtha-sūtra* defines omniscience as the simultaneous knowledge of all substances with all their modes. Kundakunda's *Pravacanasāra*[32], *Pañcāstikāyasāra*[33], *Samayasāra*[34], *Niyamasāra*[35], *Aṣṭapāhuḍa*[36] etc. refer to this conception of omniscience of which *Pravacanasāra* takes special notes. While describing the attainment of omniscience Jaina canons maintain that '' total destruction of the *Mohanīya-karmas* (deluding-*karmas*) is followed by a short interval lasting for less than a *muhūrta* (forty-eight minutes) after which the karmas veiling *jñāna* and *darśana* as also the *antarāya* (obstructive) karmas are destroyed. And then the soul shines in its full splendor and attains omniscience[37], which intuits all substances with all their modes. Nothing remains unknown in omniscience.

The philosophical approach of the problem of omniscience begins with Samantabhadra. In his work *Āptamīmāṁsā*[38] and *Svayaṁbhū-stotra* he has discussed this concept at length. In *Āptamīmāṁsā*, he introduces inferential reasoning in support of omniscience. Siddhasena Divākara also discusses the problem of *Kevala-darśana* and *Kevala-jñāna* in his important work *Sanmati Tarka*[39]. Similarly, Pūjyapāda Devanandī in his *Samādhi-tantra*[40] and *Sarvārthasiddhi*, Devavācaka in his *Nandīsūtra*, Jinabhadragaṇi Kṣamāśramaṇa in his famous work *Viśeṣāvaśyaka-bhāṣya*[41] and *Viśeṣaṇavatī*, Haribhadra Sūri in his *Ṣaḍdarśana-samuccaya*[42], *Yogadṛṣṭisamuccaya*[43], *Yogabindu* etc. have discussed and referred many problems concerning omniscience. Pātrakeśarī in his *Bṛhat-pañcanamaskāra-stotra* [44], Bhaṭṭa Akalaṅka in his *Rājavārtika*,[45] *Siddhi-viniścaya*[46], *Laghīyastraya*[47], *Nyāya-viniścaya* and *Pramāṇa-saṁgraha*; Vidyānanda in his *Āpta-parīkṣā*, *Aṣṭasahaśtrī*[48] and *Tattvārtha-ślokavārtika*[49] has discussed this concept in detail. Prabhācandra's *Nyāyakumudacandra*, *Prameya-kamala-mārtaṇḍa*[50] and Anantavīrya's *Prameya-ratnamālā* give separate treatment to the problem of omniscience. Abhayadeva Sūri in his monumental commentary on *Sanmati-tarka-prakarana* has discussed this problem

in full detail. In Digambara works Nemicandra's *Gommaṭasāra* (*Jīva-prakaraṇa* and *Karma-kāṇḍa*), *Dravya-saṁgraha*, *Labhi-sāra*; Amṛtacandra's *Puruṣārtha-siddhyupāya* are the prominent work dealing with the problem of omniscience. Rājamalla in *Pañcādhyāyī* [51], Hemacandra in *Pramāṇamīmāṁsā*, Śāntisūri in *Nyāyāvatāravārtika-vṛtti;* Māṇikyanandī in *Parīkṣāmukha;* Vādībha Siṁgh in *Syādvād-siddhi*: Yogindu in *Pramāṇa-parīkṣā* and *Yogasāra;* Dharmabhūṣaṇa in *Nyāya-dīpikā*; Yaśovijaya in *Jñāna-bindu-prakaraṇa*[52] and *Jaina-tarka-bhāṣā;*[53] Malliṣeṇa in *Syādvād-mañjarī*; Guṇabhadra in *Ātmānuśāsana* have made valuable contribution to the study of the problem of omniscience.

Arguments against Omniscience:

The problem of omniscience has been the most fundamental problem of Jainism. It is vitally associated with their *Tithaṅkaras*[54]. Naturally, vast literature has been developed around this subject. It has encountered opposition from the avowedly heterodox Cārvāks on the one hand and the staunch orthodox Mīmāṁsakas on the other. The Buddhists opposition is more or less centered on their emphasis on the knowledge of duty. The Cārvāks and the skeptics and agnostics have objected the idea of omniscience mainly on epistemological grounds. On the other hand, Mīmāṁsakas object the idea of omniscience either of god or of man, partly on metaphysics but mainly on religious grounds. Kumārila one of the two main philosophers of Mīmāṁsā rejecting the possibility of omniscience says that 'if there really existed a person knowing all things, through all the six means of knowledge, how could such a person be denied, However, if such a person be assumed to know all things by a single means of knowledge, i. e. perception, such a person would doubtlessly perceive taste and all other objects, by means of sense organs alone. Kumārila's main objection has been to show that in matters of *Dharma*, Veda is the sole authority. He further argues that when there are many omniscient persons preaching mutually contradictory doctrines- the grounds of reliability being the same in all,- which one of these should be accepted or rejected. If Buddha is omniscient, then what is proof for Kapila not being so?

Further, the Mīmāṁsakas devote much of their attention to meet the objections against the theory of self-sufficiency of verbal cognition and the eternal character of the word and to formulating their own arguments in support of their position. But if the word and its meaning are eternal, there is always a chance of one's having mistaken notions about both. So there is no independent authority in human words. The Veda is free from any such defect since it is regarded as authorless, self-sufficient and eternal. The Jainas do not believe either in self-sufficiency of verbal cognition or in eternal character of the Vedas, nor do they regard it as the only authoritative source of knowledge of *Dharma*. They attribute the knowledge of *Dharma* to their *Tīrthaṅkaras*, who are omniscient and detached from the world. Hence they have found a substitute for Vedas. It is one of the main reasons that the Mīmāṁsakas oppose tooth and nail the entire doctrine of omniscient

Mīmāṁsaka's objections

Mīmāṁsakas, through various arguments establish that there can be no omniscient being at all. Their argument can be grouped in two parts. In the first place, they contend that there is no *pramāṇa* or reason to support the theory of omniscience and secondly they show that omniscience is some thing impossible.

As regards the first line of their arguments, the Mīmāṁsakas say that *Pratyakṣa* (direct perception), *Anumāna* (inference), *Upamāna* (analogy), *Āgama* (authoritative sayings) and *Arthāpatti* (implication) are the five sources of valid knowledge. Bhaṭṭa adds *Abhāva* (non-existence) as the sixth source of knowledge. Mīmāṁsakas say that none of these *Pramāṇas* establish the existence of an omniscient being. As *Pratyakṣa* is generally a sensuous perception, it implies sense-object contact during the present time and in the case of *Kevala-jñāna*, this is lacking. Though the question of sense-object-relation is not found always valid because things are sometimes, beyond the power of senses. Such invisible things like atoms, things or persons remote in time or things far beyond (like the Meru hill) became unknown as the object of direct perception. Here we may be reminded

of the researches in para-psychology and extra sensory perception including telepathy and clairvoyance. As for perception, it can be argued that a type of perception which claims to know all things of all times and places, can definitely say that omniscient does not exists. But if there is such a type of all comprehensive perception, it is no other than the omniscience. Direct perception of an omniscient being is not possible. *Anumāna* is based on *Vyāpti* or invariable relationship between the *Sādhya* and the *Hetu*. To establish omniscience, only that would be a good *Hetu* with which, omniscience is known to be invariably connected. But how is such invariable relation to be known. It cannot be known by *Pratyakṣa* since does not come in its range, and the knowledge of a relation is impossible without a previous knowledge of the related. Hence, inference about the omniscience needs a valid *Hetu*, which is not possible. *Upamāna* consists in a determination about an object from the knowledge of an object similar to it. None, however, resembling an omniscient being is seen, so that the very basis of *Upamāna* is wanting. The Mīmāṁsakas regard the *Mantras* and *Brāhmaṇas*, the portions of Vedas, as the source of valid knowledge. Since these two have no mention of omniscience, omniscience cannot be proved by Āgama *Pramāṇa*. *Arthāpatti* also fails to prove the omniscience as Buddha was a teacher does not necessarily means that he should be omniscience. It is possible even for an ignorant man to lecture what should be done and what not. Therefore, the *Arthāpatti* does not prove the reality of omniscience. Lastly, it can not be proved by *Abhāva* also as every where the persons that are found are all in-omniscient- from which it follows that an omniscient being who is very opposite of the in-omniscient person is no where is to be found.

Jainas on the contrary maintain that omniscience is not only possible but that it is a potentiality in all souls, which has been actually realized in the *Arhats*. Prabhācandra following the pattern of Vidyānanda successfully counteract all these arguments and shows that none of these six *pramāṇas* go against omniscience. In criticism of the Mīmāṁsakas objections, they argue that '*Pratyakṣa* is either transcendental or practical. The transcendental perception is again

either incomplete or complete. The incomplete transcendental perception is either clairvoyance or telepathy. Neither of these, however, opposes the possibility of omniscience, in as much as they deal with things having 'form' and 'mental substance' respectively. Need not to say that the complete transcendental perception that is omniscience itself cannot be said to oppose the possibility of omniscience. Coming to the practical perception, we may say that neither of its two modes viz. the sensuous and the non-sensuous opposes the possibility of omniscience. The non-sensuous perception consists in pleasurable or painful feelings, arising from within the soul itself. None of these proves the impossibility of omniscience. *Anumāna* cannot establish the non-existence of omniscient beings rather it, in trying to do that posits the possibility of the omniscience. It cannot be argued that *Śabda* or scriptural authority is opposed to the possibility of omniscience. If the scripture that opposes the omniscience were *Apauruṣeya* (not man made), it would be wrong, because this type of scripture is not possible. On the other hand if it is *Pauruṣeya* (man made), Jainas say that in order that such a scripture may be authoritative, it must be revealed by a being who is omniscient (in which case the possibility of omniscience is proved by the scripture itself: if it is not revealed by such an absolutely wise and omniscient being, we cannot accept its doctrines. *Arthāpatti* proves a fact by offering an explanation, which could not be put forward by the other *Pramāṇas*. Analogy deals with similarity and similar. None of these obviously has anything to offer against the possibility of omniscience. The *Abhāva Pramāṇa* deals with the fact of the non-existence. But as *Anumāna* can establish the positive existence of an omniscient being, it cannot be the business of the *Abhāva- Pramāṇa* to establish the impossibility of omniscience.

Objections regarding the nature of Omniscience:

In order to refute the doctrine of omniscience, the Mīmāṁsakas start with the analysis of the possible meaning of the 'omniscience'. They ask whether the omniscience means the knowledge of everything or merely that of important and essential things of the universe. Jainas cannot accept the second alternative, because unless one knows

all the objects, he cannot distinguish between the essential and the non-essential and knowledge is an interrelated whole. *Ācārāṅga* refers that '*je egaṁ jāṇai se savvaṁ jāṇai.*' Every entity is related to all entities in the world in some relation or other. Hence, it follows that the complete knowledge of one entity involves the complete knowledge of other entities as well.

Since the Jainas believe that the Reality has innumerable characteristics, they cannot subscribe to the doctrine of comparative unimportance of the extent of knowledge. As things are multi-faceted, they can be known only when made the objects of all sided knowledge or omniscience. Hence the Jainas try to refute that the views of both the Mīmāṁsakas and the Buddhists like Dharmakīrti, when they try to underrate the importance of omniscience against the knowledge of Dharma. On question asked by Mīmāṁsakas as to how one can know the innumerable atoms and hairs even of a single body, hence it is impossible, Śāntarakṣita (7th cent. AD) argues that "assertion of the impossibility of any one knowing all hairs and nails, etc. is without any basis and entirely based on ignorance. He opines that there is certain difficulty in proving that Buddha knows the means of attaining heaven and liberation and the omniscience of Buddha is only incidental but it does not mean that in matters other than heaven and liberation, the knowledge of Buddha is not hampered by obstacles and is therefore all inclusive. Kumārila says that Buddhists omniscience is pseudo-omniscience, because it is the knowledge of every thing except *Dharma* and *Adharma*. He adds that 'he does not reject omniscience of a person knowing other things; what he means is only the denial of omniscience in particular cases, e.g. knowledge of *Dharma*. Vidyānanda also refutes the views of Dharmakīrti in restricting the meaning of omniscience only to the knowledge of desirable (*upādeya*) and non-desirable (*heya*) because the knowledge illumines all objects of all times and places without any distinction. Therefore, the question of 'desirable' and 'undesirable' things is unnecessary, for what is desirable at one place and times becomes otherwise at another place and time. The Jainas strictly adhere to the concept of total knowledge as the criterion of omniscience. Yaśovijaya says that all-inclusive

cognition (*sarva-viṣayatā)* and directness of perception (*sākṣātkāratva*) are the two characteristics of omniscience. However, the distinguishing feature of *Kevala Jñānīs* also said to be *sarvaviṣayatā*. Hence, the Jainas do not allow to any one to reduce omniscient knowledge to that of the epitome of the universe, however useful that might be.

The Second Objection:

The second objection is about the knowledge of attributes and modes. Mīmāṁsakas argue, "even if the person, by his diversified nature, apprehends all things, he can not apprehend the specific individualities of all things. Under the circumstances there is no use of omniscient person who knows the things only in their general form, especially as in no other form is the thing apprehended. Jainas do not agree with this. To the Jainas, the substance does not exist separate from attributes and modes. Attributes cannot constitute reality because Jainas do not believe that *esse est percipi*. What they mean that on attribute in order to be objective and not merely psychical does require an objective basis and that is *Dravya*. In fact, objects cannot be conceived from attributes and *vice-versa*.

Third Objection:

Even if we accept that the omniscient person knows every thing with all their attributes, omniscience cannot be true and complete unless it extends over all the places and all the times. In fact, according to Jainism, spatial and temporal limitations are transcended even in imperfect super normal perception called *Avadhi*, but only with regard to the objects having form. Even the highest type of *Avadhi*, though it can perceive all objects having form, it cannot perceive all the modes of all the things. This is not therefore complete omniscience. Again, they argue that if it is omniscience, is it successive or simultaneous, if it is successive, it cannot be omniscience, since in that case the endless number of objects with their innumerable attributes can never be exhausted and thus the knowledge so conditioned would never be complete.

To this Jainas says that the omniscient knowledge is not successive but simultaneous. Mīmāṁsakas further argue and ask whether such a simultaneous knowledge is apprehended by one cognition or by several cognitions. If the former is the case then it is impossible to perceive contradictory thing like pure and impure at once by a single cognition.

In fact there are certain things mutually incompatible, they are cognizable by the same cognition. We do have simultaneous perception of darkness and light when there is a flash of lightening in a dark night. Mīmāṁsakas say that if there is nothing incompatible, in contraries figuring in the same cognition, and then it should be possible pleasure and pain, love and hate also to figure in the same cognition. To this objection it may be replied that pleasure and pain are not simultaneously cognized because they do not appear at one and same time on account of the fact the causes of both can not be presented at the same time, and not on incompatibility.

Mīmāṁsakas say that in knowing things existing in all times, one may know the objects of past and future either as they are or as existent in the present. If the omniscient being knows the past and the future, which are not existent, his knowledge would be illusory. If the past and the future are known as existent, they are converted into the present. If the past and the future were known by the omniscient as present, his knowledge again would be illusory. Hence, in both the cases omniscience is impossible.

Jainas turning aside the objection say that past and future are perceived by the omniscient not at present, but as past and future. Hence, there is no question of being it illusory. The past and future things are as much existent and real in relation to their own time as the present things are in relation to the present. In fact, the omniscient knows past objects as existing in the past and future objects as existing in the future.

On the objection raised by Mīmāṁsakas that if the omniscient knows all the objects at one and the same time, he would become unconscious in the next moment and he would nothing left to cognize,

Jainas consider it as absurd and say that this objection would have been valid if both the perception of the omniscient and the entire world were annihilated in the following moment. But both of these are ever-lasting or eternal, hence there is no absurdity.

Mīmāṁsakas further argue that if an omniscient being treats both the prior non-existent (e.g. past) and posterior non-existence (e.g. future) simultaneously, it is wrong because both of them cannot co-exist together. For example, simultaneously birth and death of the same person cannot take place together or at a time a blue object is treated as blue and not as yellow. To this, Jainas reply that an object perceived as blue at a particular place and time and not always and in every case. So there is no contradiction.

It is further argued that if the omniscient being cognizes everything, he must also have the experience of attachment and aversion etc. and therefore will be influenced and contaminated by them. Consequently, he would cease to be omniscient because that attachment and aversion are obstructions to right cognition. Jainas say that mere knowledge of desires, aversions etc. is not sufficient to make a person tainted by them unless the self is transformed into the very mode of attachment etc. Besides, desires and aversions are produced by our impure mental states and senses and not by the self, which is pure and perfect. Knowledge is different from active participation.

To conclude, Omniscience in Jainism is not only the perfection of the cognitive faculty of the self but also its ultimate end. It is spiritual state of eternal bliss and the culmination of the religious aspiration. This state can be compared with the state of *Jīvanamukti* of Sāṁkhya and Vedānta. Similarly, *Alaukika-pratyakṣa* of Nyāya School, *Asamprajñātasamādhi* of Yoga, *Turīyāvasthā* of Upaniṣads and Radhakrishnan's Religious experience have very clear implications of omniscience, although they partly encroach on the realm of the religious mysticism. Excepting the Mīmāṁsakas and the Cārvāks, all Indian systems believe in the possibility of human omniscience, however, the Śramaṇic culture insistence on human omniscience more than others to grant infallibility to their prophets, because on this depend the very life and death of their systems. In

fact, the attributes of omniscience is an important feature of the state of liberation as the perfect knowledge (*Kevala-jñāna*) arises only in state of liberation or total annihilation of all obstructive veils. Its other feature is Omni bliss, Omni power and Omni faith.

References:

1. *Atharvaveda*-1.13.4; *Ṛgveda*- 10.91.3
2. *Ṛgveda*- 9.4.85, 10.122.2
3. *Ṛgveda*- 10.81.3
4. *Atharvaveda*- 17-1-11
5. *Muṇḍaka*- I.i.9
6. *Pātañjala-yogasūtram*-1.24.5
7. *Chāndogya-upaniṣad*-VII.25.2
8. *Ibid*- VI.1
9. On the Sarvajñatva of Mahāvīra and Buddha-P. S. Jaini, P.72
10. Lewis, C. T. & Short, A Latin Dictionary, London, p 1265
11. Pāṇini, *Aṣṭādhyāyī*, ed. & trans. S. C. Vasu (Allahabad, Pāṇini Office. 1897), III.2.3
12. Breul, Karl, *A New German & English Dictionary*, p 321 'all wissened'
13. Seagal Louis, New Complete English Russian Dictionary, London, p 654
14. James Bouhe & De V. Payen-Payen, *A New French and English Dictionary*, p 331
15. Bensely Edward R, *A New Dictionary of Spanish and English Language*, Paris, p.453
16. Wessely J. E. & Payn G. R. 'Dictionary of the English & Italian
17. Śāntarakṣita, *Tattvasaṅgraha*, Vol. II, *Kārikā*-3131
18. *Ibid*, 3132
19. *Ibid*, 3134
20. Kumārila Bhaṭṭa, *Ślokavārtika* Edited by G. N. Jha
21. *The Jaina concept of Omniscience*, Dr. Ramjee Singh, p. 15
22. Shastri D. R. *Cārvāk-śaṣṭhi- Verse* 14-19
23. *Ibid*, 41-42, 33, 54-55
24. Shastri D. R. *Short History of Indian Materailism*,p.-17

25. *Sūtrakṛtāṅga-sūtra* I.2.6-23
26. *Ślokavārtikavyākhyā* (*Tātparyaṭīkā*) verse-116-154)
27. Vādideva Sūri, *Pramāṇa-naya-tattvālokālaṅkaraḥ*- p.147
28. *Buddhist Logic*-by- Th. Stcherbatsky Vol.I, p.162
29. *Abhidhāna-rājendra,* Vol. VII, p.585
30. *Ācārāṅga*[29] 1.3.4
31. *Kalpasūtra,* (120.1), H. Jacobi, (trans.) *Jaina Sutras*, Pt. I (SBE Vol. XXII), p 263
32. Kundakunda, *Pravacanasāra*-1.28-31, 1.48
33. Kundakunda, *Pañcāstikāya-sāra* 28,29
34. Kundakunda, *Samayasāra*- Ch.I.X. 403
35. Kundakunda, *Niyamasāra*- 158-159, 160-65
36. Kundakunda, *Aṣṭapāhuḍa*- I.10-20
37. *Tattvārthasūtra* X.1
38. Samantabhadra, *Āptamīmāṁsā,* 5.6
39. Siddhasena Divākara, *Sanmati-tarka-prakaraṇa- Kāṇḍa*- II
40. Pūjyapāda, *Samādhitantra* -9
41. Jinabhadragaṇi Kṣamāśramaṇa, *Viśeṣāvaśyakabhāṣya*- 3090
42. Haribhadra, *Ṣaḍdarśana-samuccaya*- -45
43. Haribhadra, *Yogadṛṣṭisamuccaya*-102-103, 140-147
44. *Bṛhatpañcanamaskāra-stotra*- 4, 18-20
45. Bhaṭṭa Akalaṅka, *Rājavārtika*-I.29-30
46. Bhaṭṭa Akalaṅka, *Siddhiviniścaya*- VIII. 1.43
47. Bhaṭṭa Akalaṅka, *Laghiyastraya*- 61
48. Vidyānanda, *Aṣṭasahaśtrī*- p-44-71
49. Vidyānanda, *Tattvārtha-ślokavārtika*- I. 29.1, I.39, I.30-34
50. Prabhācandra, *Prameya-kamala-mārtaṇḍa*- p-247-256
51. Rājamalla, *Pañcādhyāyī*- II-20
52. Yaśovijaya, *Jñānabinduprakaraṇa*- Section- 57-58
53. Yaśovijaya, *Jaina-tarka-bhāṣā*- Section-21
54. Vidyānanda, *Āptaparīkṣā*--3

*

Śramaṇa, Vol. 58, No. 2-3
April-September 2007

Contribution of Śramaṇa Tradition to Indian Culture

Dr. B.N. Sinha*

Indian culture consists of two main traditions - Vedic and Śramaṇa. The Vedic tradition is known as Brāhmaṇa tradition where as the Śramaṇa tradition as Kṣatrīya tradition. The Vedic tradition is theistic while Śramaṇa tradition is atheistic. Jainism and Buddhism are the two branches of Śramaṇa tradition. The philosophies of both - Jainism and Buddhism are based on their canons known as *Āgama* and *Tripiṭaka* respectively. The language of Jaina Āgamas is Prākṛta whereas *Tripiṭkas* are composed in Pāli.

These two sister religions have contributed a lot to the Indian culture. Their contribution may be seen in all aspects of Indian culture or Indian life, such as -

Way to Practical Life

The *Upaniṣads* of the Vedic tradition have introduced Brahma as the ultimate reality which is absolute. The absolute transcends all subjects and objects of this world. It cannot help any body in the worldly life. So it is of no use for practical life. All worldly affairs, some how or other, are relative to each other. Jainism, one of the Śramanic systems has established the theory of relativity as its basic principle. The same theory of relativity is known as *Anekāntavāda* in its metaphysics, *Syādvāda* in its epistemology and *Ahiṁsā* in its ethics. This theory covers all spheres of human life. So it has paved a grand path to the practical life.

* *Reader (Rtd.), Dept. of Philosophy, M.G. Kashi Vidyapith, Varanasi*
Former Senior Fellow, I.C.P.R., New Delhi

Freedom from Godly Dependence

Because, the Vedic tradition is theistic one, it accepts that God is the creator, sustainer and destroyer of this universe. All good and bad, right and wrong, religious and irreligious, social and unsocial, pleasant and unpleasant found in the world are created by God who is almighty, omnipresent and omnipotent. Even the small leaf does not move without the grace of God. Nothing can be done and achieved without God's will. The birth and death of a man and all activities between birth and death, happen under Godly direction. Goswami Tulsidas, a famous theist has declared so :

sabahi nacāvata Rāmagosāīn /

nācāta nara markaṭa kī nāīn //

That Rāma who is God makes all beings dance, and they dance like monkey, as monkey dances according to the desire of its owner (Madāri).

The Śramanic systems have negated the Godly dependence. A man is free to do any thing according to his own will. He can do right or wrong, good or bad as he likes. He can enjoy pleasure or suffer pain according to the result of his own deeds. He is not under pressure of any transcendental power. The Śrmaṇic systems have presented man as a true man who is free and fearless. Thus in the terminology of Political Science, it may be remarked that the Śramaṇic systems have brought Indian culture to human democracy from the Godly monarchy. They have provided to man the status of man, not of God's slave as in the Vedic tradition.

Self-controlled Human Life

To be free from Godly dependence does not mean to have a life without any control. It does not mean lawlessness or to lead a careless and crime-pro life. Abraham Lincon has defined democracy as :

Government of the people

Government for the people

Government by the people.

That people are all in all. Even the government is in the hands of public. In the same way according to the Śramanic systems human life is self-controlled.

Man is the controller, man is the controlled.

Man is the director, man is the directed.

Man's deeds make his life pleasant, man's deeds make his life painful.

In order to control the human life Jainism has propounded five great vows *(Pañca-mahāvratas)* for ascetics and five minor scale vows *(Pañca-aṇuvaratas)* for the house holders.

Five Great Vows

1. Abstention from Violence (Prāṇātipātaviramaṇa) - The word *Prāṇātipāta* literally means to destroy (*atipāta*) life-forces (*prāṇa*) of living beings. In short it is refraining from violence. *Himsā* refers to any action of giving pain to any living being by mind, body and speech. According to *Ācāraṅga*:[1]

"All animals *(prāṇī)*, all elements *(bhūta)* all beings *(jīva)* and all existents *(sattā)* should neither be killed, nor be ordered to be killed, nor be oppressed, nor be tortured, nor be disturbed with a view to killing. The religion *(dharma)* in the form of non-violence is pure."

Non-violence is the first and foremost among all *vratas*. So other *vratas* are done for the maintenance of non-violence.

2. Abstention from false speech (Mṛṣāvādaviramaṇa) - The abstention from untruth which is spoken in order to cheat and to harm other persons.

3. Abstention from stealing (Adattādāna-viramaṇa) - The stealing is to take something which is not given by its master. It causes harm to the real owner.

4. Abstention from Sexuality (Maithuna viramaṇa) - The sexual intercourse is held due to the sex passions. The sexual activity crates two types of demerits in human life.

a) The peace of normal life is disturbed being provoked sexual desire again and again.

b) The very act of intercourse slaughters great number of souls who dwell in the generative organs of the female and the ejaculate of the male. So the vow of abstention from sexuality forbids ascetics to indulge himself in this activity.

5. Abstention from possessiveness (Saṅgraha-viramaṇa) Everybody wants to possess different things in order to lead a pleasant life. The desire for possessiveness increases day by day and a time comes when he commits so many unsocial and unethical deeds in order to earn enough for his luxurious life. He exploits others and disturbs the economic balance of his society. Therefore non-possessiveness has been accepted for a plain and pious life.

If the aforesaid vows are strictly observed they are known as *Mahāvratas*, i.e., great vows and naturally these are meant for the ascetics. Laymen, however, cannot observe vows so strictly and therefore, they are allowed to practice them so far as their conditions permit. Hence, the vows prescribed for lay devotees is called *Aṇuvrata* or minor scale vows.

Five Minor scale Vows (Pañca Aṇuvratas)

a) **Abstinence from gross violence** *(Sthūla Prāṇātipāta viramaṇa)*- This vow forbids killing of any living beings but allows injurious activities which are inevitable and which may be tolerated within strict guidelines.

b) **Abstinence from gross false-speech** *(Sthūlamṛṣāvāda-viramaṇa)*- This involves the vow of refraining from lying (*asatya*) of any short.

c) **Abstinence from gross stealing** *(Sthūla-adattādāna-viramaṇa)*- It is refraining from taking any thing, which is not given. Here the word 'given' means acquired in a legitimate transaction.

d) **Abstinence from gross sexuality** *(Sthūla maithuna Viramaṇa)*- This vow tells us to give-up all illicit sexual relations which finally culminate in contentment with one's own wife *(Svadāra-santoṣa)* and contentment with one's own husband *(Svapatī-santoṣa)*.

e) **Limiting one's possessions** (Parigraha-parimāṇa) or limiting one's desires *(Icchā-parimāṇa)*-The principle of *parigraha-parimāṇa* teaches us to restrict our possessions to the minimum.

Like Jainism, Buddhism also teaches us to lead a restraint and controlled life. The Buddha's main concern was to eliminate suffering, to find a cure for the pain of human existence. Gautama Buddha introduced four Noble Truths which talks about the *Duḥkha,* its cause and means of cessation.

Four noble truths (Ārya-satya)

1. Suffering (Duḥkha) - Human life is full of miseries such as poverty, diseases, old age, death, greed, anger, hatred conflict, exploitation etc.

2. Cause of suffering (Duḥkha-Samudaya) - In the world nothing happens without cause. All things found in this world are conditional and relatives. Therefore suffering has a cause.

3. Cessation of suffering (Duḥkha-nirodha) - If there is cause of suffering, it may be removed when the cause is removed.

4. The way leading to the cessation of suffering (Duhkha-nirodha-gāminī pratipat) - This noble truth is eight-fold.

(a) Right faith (*Samyak dṛṣṭi*) (b) Right resolve (*Samyak Saṅkalpa*) (c) Right speech (*Samyak Vāk*) (d) Right action (*Samyak Karmānta*) (e) Right living (*Samyak Ājīva*) (f) Right effort (*Samyak Vyāyāma*) (g) Right thought (*Samyak Smṛti*) (h) Right concentration (*Samyak Samādhi*)

Out of these eightfold path the first two steps constitute Wisdom. Right faith (or right views) is the grasping of true reality, and a direct insight and penetration into the nature of things. Right resolve is that frame of mind which is selfless, detached and free of malice; that generosity of spirit which extends loving benevolence to all beings. The next three steps on the eightfold path constitute ethical conduct. Right speech involves abstaining from lies, from rude or malicious language. Right action requires abstaining from killing and all violence, stealing, dishonest practices, intoxicating drinks and improper sexual behavior. Right livelihood means that one should abstain from any profession that brings harm to others, such as weaponry, butchering animals or selling liquor. The last three steps on the path are those which promote mental discipline. Right effort is the will to cultivate wholesome states of mind and eliminate evil

or unwanted ones. Right Smṛti involves being keenly aware of the processes involved in one's daily existence, those of the body, the sensations, the mind and the experiencing of thoughts and ideas. Right concentration refers to the progressive stages of *dhyāna*. In this discipline, the mind is gradually cleared of passionate desires, then thoughts, then finally even feelings of joy, until only pure awareness remains, in a state of perfect calm and equanimity.

Social Equality

The Hindu social organizations have divided society into four classes (Varṇas) Brāhmaṇa, Kṣatriya, Vaiśya and Śūdra. In the social ranking - Brāhmaṇa is on the top and the Śūdra is on the bottom. This theory is based on birth. So a Brāhmaṇa is considered as worthy to be honoured during his whole life, though he lives an immoral life. Tulsidas has asserted in his famous work *Rāmacaritamānasa-*

"pūjahu bipra śilaguṇa hīnā"

That a Brāhmaṇa should be worshiped even if he is characterless. On the other hand a Śudra is neglected during his whole life even if he leads virtuous life. This way of social consideration makes the society weak and divided.

The Śramanic systems - Jainism and Buddhism have negated the birth theory of social organization. According to these systems the social status must be decided on the basis of deeds *(karmas)* done by a person. *Uttarādhyayana Sūtra*, while laying stress upon karma-theory maintains:

kammuṇā bambhaṇo hoi, kammuṇā hoi khattio /

vaisso Kammuṇā hoi, suddo hoi kammuṇa //[2]

That, one becomes a Brāhmaṇa or a Kṣatriya or a Vaiśya or a Śūdra according to his deeds. The same principle has been accepted by Buddhism also.

na Jaccā vasalo hoti, na jaccā hoti brahmano /

kammaṇā vasalo hoti kammaṇā hoti Brahmaṇo //[3]

The distinction between Śudra and Brāhmaṇa should be made on the basis of deeds *(Karma)* not on birth.

Scientific Theories

In Indian way of thinking no classification of subjects has been made. Religion, philosophy, art, social sciences etc. have been discussed altogether. It is unfortunate enough that as yet Indian scientific theories discovered in the remote past have not been identified as scientific theories even by the Indian scientists, what to talk of the western scientists. It is the duty of the modern Indian scientists to place them properly in the scientific field of study.

1. Mathematics and Agriculture

Ṛṣabhadeva the, founder of Jainism has invented Mathematics the root of all sciences. He has also discovered the science of Agriculture.

2. Theory of Relativity

The theory of relativity, though well known in the name of the modern western scientist Einstein, was invented in Jainism much earlier than his presentation of the theory. But it is locked in the religio-philosophical area of study. It should be brought out from this philosophical limitation and be placed under scientific observations.

3. Theory of Mobility

It is generally known that different living beings which have consciousness move from one place to other. But in Jainism it has been confirmed that even non living beings can make the movement of different beings fast and faster. This is already proved in the modern age. When a person uses vehicles like cycle, motorcycles, motor etc. the speed of his movement becomes fast and faster.

4. Theory of Immobility

Like theory of mobility, there is also theory of immobility in Jainism. According to this theory a non-living being can create immobility also. Suppose a man is going on his path and due to long journey and scorching heat he becomes tired. In that situation he sits down in the shadow of a tree or some peaceful hut by the side of his way. Thus his mobility is finished and immobility takes place due to shadow or hut which are non-beings.

5. Theory of Space

Space (Ākāśa), according to Jainism is formless, all pervasive and self-supported. It provides shelters to all beings. It has two divisions.

a) World space (Lokākāśa) in which all beings reside, So there are mobility and immobility in it.

b) Non-world space (Alokākāśa) in which nothing is found, neither mobility nor immobility.

6. Theory of Matter

The Jaina thinkers have named matter as *Pudgala* which has four characteristics-touch, taste, smell and colour. The *Pudgala* has been divided into two kinds - 1) Atom (*Aṇu* or *Paramāṇū*) and 2) Molecule *(Skandha)*). Molecule is the combination of atoms. There are three methods through which atoms are formed into molecules.

a) Division - When the big molecule is divided, the small molecules are formed.

b) Association - The molecule is formed when atoms are associated.

c) Both Division and Union - The molecule is also formed by the combined process of division and union.

The association of atoms, which forms molecule takes place due to harshness *(Rukṣatā)* and smoothness *(Snigdhatā)*. But there must be difference of two quantities between harshness and smoothness, otherwise atoms cannot be associated.

7. Theory of Time

Time is known as *'Kāla'* which is eternal and formless. It acts as a helper in producing change in the world. The calculation of time according to Jainism may be known in following way.

a) *Samaya* - Te lowest unit of time

b) Innumerable *samayas* = *An āvalikā*

c) 1,67,77,216 *āvalikās* = One *muhūrta* = 48 minutes

d) 30 *muhūrtas* = An *ahorātra* (A day and night)

e) *Ahorātrās* make fortnights, months, years etc.

"Years can be expressed in words up to a number containing, 77 ciphers, beyond it is innumerable. An innumerable quantity of years makes a *palyopama*, 10 *Koṭākoṭi* (crore multiplied by crore) *palyopamas* form a *sāgaropama.*

Time consists of two kinds of cyclés : the ascending[4] cycle *(utasarpiṇī)* and the descending cycle *(avasarpiṇī)*

Bharatanāṭyama

Ṛṣabhadeva has also introduced Seventy two types of art for men and Sixty four types of art for women. Among these Bharatnāṭyama is well known in the name of his son, Bharata.

8. Support to Environmental Purification

Jainism has provided a permanent support to environmental purification for Indian life. According the Jaina metaphysics water, air, earth, vegetable are one sensed beings and its theory of non-violence asserts that even one sensed beings should never be disturbed and destroyed. As a result of these theories of Jainism environmental purification may be maintained permanently.

In this way it may be concluded that Śramaṇa tradition has contributed a lot to Indian culture.

Reference:

1. *Ācārāṅgasūtra* - Atmaramaji : (Prathama śrutaśkandha), Caturtha Adhyāyana, Uddeśaka - 1, page 370.
2. *Khuddaka Nikāya,* Vol. I, 290, V-VI.
3. *Uttarādhyayana Sūtra,* 25-33.s
4. *Jain Culture, Mohan Lal Mehta,* p. 51.

*

Śramaṇa, Vol. 58, No. 2
April-September 2007

Jahangir's relation with Spiritual Jaina Leaders

Dr. Nirmala Gupta*

Jainism is a living religion, but the description of Jainism throughout the Medieval-period is very scanty; moreover, the Jains are always described as Hindus. Jaina scriptures reveal that they were very particular about '*Ahiṁsā*,' and were considered as a rich community and as bankers who used to finance the rulers and the nobles. There are ample of details available about the happy relation subsisting between the Mughal-rulers, Akbar and Jahangir, and the spiritual leaders of Jains. The unique collection of *farmans* is still preserved by various Jaina-Bhaṇḍāras and by the family of Seth Shanti Das Jawahari, the ancestor of the famous *Nagara-Seṭha* family of Ahmedabad. When the *Ibādata-khanā* used to be open for non-Muslim subjects, Jains were also invited. Abul Fazl knew it's doctrines, and so was Akbar. But, due to scanty information available on the participation of Jains in the debates, even many modern historians completely ignored it. Elphinstone, Von Noer, Mallesan and even Blochmann failed to notice the Jaina aspect of the question. In the list of the learned-men of the time, mentioned in '*Āine Akbarī*', one is Hariji Sur (most probably Hīravijaya Sūri), the other is Bijaysen Sur (most probably Vijayasena Sūri), and the third is Bhan Chandra (most probably Bhānucandra). Akbar had very good relations with the above mentioned *Ācāryas*. '*Bhānucandra-caritra*' also mentions that Abul Fazl studied, under his guidance, '*Ṣaḍ-darśana-samuccaya*', a treatise expanding the six systems of Indian philosophy.[1] Later on, many of the humanitarian regulations of Akbar and Jahangir have been ascribed to the Jain-influence.

* *Reader in History, Mahila Mahavidyalaya, B.H.U., Varanasi*

Gujarat was the center of Jainism. The influence of Jaina Ācāryas, which started from the reign of Akbar, was continued till the first-half of Jahangir's reign. Though, the imperial-historians are also silent on this issue, but the Jaina-biographies and the sources from some half dozen of the royal-*farmans* are there to show that Jahangir, alike his father, supported the Jaina-Ācāryas and issued *farmans* granting benefits to and ensuring the good for their community. It shows the happy-relation of Jaina-Ācāryas with Emperor Jahangir. These *farmans*, which were published in the Journal of Bombay University in the year 1940, are the evidences of the extremely tolerant religious policy of these rulers in an age of high religious bigotry and persecution. *Bhānucandra-caritra* and '*Surishwar* or *Samrat*' also deal with the relation of Jaina-Ācāryas and the Emperors and also deal with the translation of these *farmans*.

Bhānucandra, not only brought his influence to bear on Akbar, for doing the good of his community, but of the public at large. It is said that when Mughal-army raided Jamnagar, and made captive the king with all his men, Akbar was celebrating the occasion and granting various gifts to his men, he requested Bhānucandra also to ask for something. Instead of wishing for any trifling thing, he skillfully demanded release of all those prisoners who were made captive, and the Emperor had to grant soon.[2] The second instance, as writes Siddhicandra, was that when Salim (Emperor Jahangir) was appointed as the Sūbedāra of Gujarat, the Jeziya and other taxes, which were stopped by Akbar, were revived by him. When Bhānucandra came to know of it, he sent Siddhicandra to put Salim in the right-knowledge of the affairs; hearing which, Salim became sad at heart and issued farman to his officers, repealing the taxes.[3]

When Akbar died, Bhānucandra and his disciple Siddhicandra were present in the Agra fort. On the accession of Jahangir, both Bhānucandra and Siddhicandra, who had been continuously in residence at Akbar's court for the record period of 20 years, sought

and received the royal-permission to return to their native country. The earliest of several imperial *farmans* issued by Jahangir in favor of Jains, some of which are located in the Jaina-bhaṇḍāra at Cambay, was probably granted to these Jaina-leaders on their departure from Agra for Gujarat in 1605-06. The *farman* was addressed to the officials, particularly, of the 'Sarakar' of Sorath (Saurashtra) to the effect that "Be it known to those issuing orders relating to important affairs, those executing those orders, their clerks and the present and future Mutasaddis.....and others and particularly those of Sorath Sarkar, having received and further expecting royal favours, that whereas Bhānucandra Yati and Siddhicandra Yati - the holder of the title '*Khush-faham*', made a humble presentation to us that the Jaziya, the toll, the slaughter of animals, viz. cows, she buffaloes, he buffaloes and bullocks, killing of other animals on specified days of each month, confiscation of the property of the dead, taking people as captives, and the poll-tax on the pilgrims visiting mount Śatruñjaya exacted in Sorath Sarakar - all these had been abolished and prohibited by Ala Hazarat (The Emperor Akbar). And as we are perfectly kind to all people, we have also prohibited (slaughter of animals) as per below-written list after adding to it one more month at the end where of our birth took place-they (the officers) should carry out this our best order and should not deviate from or go against it. And Vijayasena Sūri and Vijayadeva Sūri who are there (in Gujarat) should be properly looked after, and whatever thing they may represent to be done, should be done perfectly, so that they may remain occupied in praying for the permanency of the victorious kingdom with happy mind."[4] The farman is with the name of Abul Muzaffar Sultan Shah Salim Gazi which show that it was issued by the Emperor before he assumed his formal Imperial title of 'Nuruddin Muhammad Jahangir Bahadur Gazi'. The date of the farman is not legible, but it may be placed in the very first year of Jahangir's reign.

Bhānucandra and Siddhicandra, receiving the usual ceremonies at the various Jaina centers on the journey, arrived at Ahmedabad;

and there, Vijayasena Sūri, the head of the Tapāgaccha and later on, Raja Vikramajit who was appointed as the Viceroy of Gujarat, accompanied the Jaina-monks. In the local *upāśraya*, the Raja, accompanied by Siddhicandra, performed the worship of the deities and issued a proclamation by beat of drum, prohibiting animal slaughter. From 1607 to 1610, Bhānucandra and Siddhicandra stayed in Gujarat. While their stay in Gujarat, an incident took-place. A Jaina-lady, named Lali, installed the idol of Tīrthaṅkara. The occasion was celebrated with festivities on a very grand scale. Jaina congregations from all towns and villages flocked to Patan. While the '*Jalayātrā*' procession was in progress, an order, prohibiting the ceremony, was issued by the Governor, Mirza Sadulla by name. A wave of grief overwhelmed the crowd, which a moment age was in high spirits. All activities came to a sudden stop, and none knew what to do. A deputation consisting of the leading members of the congregation waited upon the Governor; but, they were rudely insulted by him. At last accompanied by the leading members of the congregation, Siddhicandra confidently went to the residence of Mirza Sadulla, the governor, and requested him to tell him the reason why the performance of a good and harmless ceremony was prohibited by him. He also warned him that such an attitude on his part would mean the end of all relationship between them. On hearing this reprimand, the Governor felt ashamed and inquired of Siddhicandra what he should do to please him. The latter asked him to accompany him to the *upāśraya*, to see his master there, and to attend the *Jalayātrā Mahotsava*[5]. The Governor accompanied to comply with his request. Thus triumphed the good over the wicked who meant trouble. Then the *Upādhyāya*, having passed monsoons at Vatapadra (Baroda) and Gandhara, halted at Patan duing the next monsoon.[6]

While their stay at Ahmedabad, the Deputy of Jahangir, named Jahangir Quli Khan, eonveyed the messagc of the Emperor that he desired that Bhānucandra and Siddhicandra should go to Agra ad see

him. Both the monks started for their long journey to Agra. Most probably, they arrived at the court in 1611 and stayed there till 1613, but Jaina sources do not say anything about the dates. During their absence from the Imperial-court 1606 and 1611, when they arrived at Agra for the second time, Jahangir maintained his relations with other Jaina monks of repute. Among other Jaina monks, Viveka Harṣa and Paramānanda visited the royal court, and Jahangir issued his other farman in 1608 AD addressed to the governors, officials and *Jāgīrdārs* of the Subah of Gujarat. Is the effect that no one should enter these temples without permission, and no objection should enter these temples without permission, and no objection should be made to their being repaired or rebuilt, and that on Sunday and Thursday in every week, and the new-moon day of every month, and the days of feasts, and every new-year's day, and in the month of Navaroj, and one day in the month of yar-mah,- there shall be no killing of animals in (our) protected kingdom; and no one on those days shall hunt and catch and kill birds and fishes.[7]

Another farman was issued two years later, in 1610, to the effect that Viveka Harṣa, Parmānanda and Udaya Harṣa, the disciples of Vijayasena Sūri, and others of the Tapāgaccha sect had submitted a request that, during the holy days of the *Paryūṣaṇa* festival of the Jains, in the month of Bhādarvā, there Should bo no slaughter of animals in any part of his Majesty's dominions, and that thereby the Jains would feel honored, the lives of many animals would be saved. Jahangir issued the *farman* ordering his governors, administrative officers that during twelve days of the each year of the Jaina-*Paryūṣaṇa*, no animal should be slaughtered in the places of killing in all our protected territories, and no preparation (even) for such an act should be made. Besides, no new order or *sanada* in respect there or should be requisitioned.[8]

The issue of this farman is confirmed by a pictorial epistle, which is known as '*Vijñaptipatras*' or '*Saṁvatsarika-patras*' or

'*Kṣamāpanā-patras*'[9]; simply it is a letter of solicitation. The specialty of this '*Vijñaptipatras*' is that the painting depicts the scene of the Darbar in which the Emperor was sitting at the '*jharokhā*', Raja Ramdas was in front' behind him stood Pandit Viveka Harṣa with the *farman* (granted by Akbar), and after him Pandit Udaya Harṣa. They made a request about non-slaughter of animals, and the Emperor gave immediate orders. Ustad Salivahana was the royal-painter who had reproduced (in this document) the scene exactly as he witnessed.[10]

At last, when both monks Bhānucandra and Siddhicandra, reached Agra where a magnificent reception was accorded to them. The Emperor, learning from Ramadas that they both were waiting outside, at once summoned them to his presence, and greeted them with much respect and pleasure. He said, "Welcome to you both; you should always be with me".[11] *Bhānucandra-caritra*' throws ample light on their several visits to Emperor Jahangir.

Once, the Emperor affectionately said to the *Upādhyāya* [12]" Siddhicandra is endowed with good manners and physical beauty rarely found in others. Please see that he comes to me everyday at least for a short time." Accordingly, Siddhicandra used to visit the royal-court where the Emperor listened to his sermons which impressed him very highly. The Emperor declared to him that he would do anything that he desired him to do. Because of these interviews with the Emperor, his wide learning of Sanskrit and Persian and his discussions made him very popular, and Jahangir was very much attracted by his manners, austerities and handsome personality. At one occasion, while Siddhicandra was delivering an interesting lecture on the lives of the holiest saints, the Emperor put a question to Siddhicandra: "How many years have elapsed since the birth of Your Holiness- you whose attachment to *Parabrahma* (the highest spirit) is supreme?" The answer was, "Twenty five."[13]

In another visit, the Emperor, looking at the physical handsomeness and perfection of Siddhicandra was struck with the

thought that his position was similar to that of a male cuckoo cooing on the mango tree in a forest in the form of religious austerities. So, he called him to his side and said, "O Lord! Your form is stately enough to make you a king. You have youth hotly in your veins. Your age is meant for the soft pleasure of contact with the body of red-blooded damsels. Why then, do you waste it upon the desert of severe austerities?" Siddhicandra replied in a strident voice, "Initiation into monkhood at a tender age is neither funny nor foolish. In the drinking of nectar the wise never wait. Which age is more suited to austerities-youth or old age? Death lays his icy hands on the young and the old alike. O king! In old age a man has no resisting power-no vitality, without which no austerities can be performed. It is, therefore, nothing more than a delusion to think that old age is the only and most proper time for renouncing the world for the purpose of achieving the noble aim of spiritual liberation and perfection. In old age, the performance of things requiring vitality results into the dullness of intellect and nervous breakdown. Religious austerity is a sword that kills all the enemies in the form of wicked actions perpetrated by a man in his countless previous births as well as in his present birth. He, who takes to this course of life, is respected by all as a man of courage. Like the Sun it grants the luster-purity to his eyes, and gives him enough light in the form of knowledge and conviction to enable him to distinguish between the real and the shadowy,- the material and the immaterial."[14]

The Emperor asked, "How do you manage to keep your mind firm at an age when it is exceedingly prone to be assailed constantly by the god of Love?

Siddhicandra replied, "By means of knowledge- especially, knowledge derived from meditation on the higher truths of religion and philosophy, which teach man how to understand his own nature and how he may be re-united with the Supreme Spirit-the mind would become firm and would be controlled just as an elephant is controlled by means of a hook."[15]

The monk further asserted that "absolute detachment from worldly shackles is the final aim of existence. Ascetics are absorbed in the contemplation of the Supreme Spirit, and always immersed in the ocean of tranquility. Kings and Emperors cannot daunt them who are as free as fish in the sea of happiness. Their sojourn is always on the purest path and they are always intent upon the acquisition of virtues. Always obliging and always profuse in meritorious action, they are not slaves of the greed of possession, and are always courageous in taking vows. Constant search of spiritual knowledge is the passion of their lives: they are independent even of gods."[16]

Jahangir was very much pleased with this answer. It is also said that Noor Mahal, the beautiful Empress, also joined in the discussion and she asked some questions-" How can firmness be compatible with youth? It is impossible". Siddhicandra tried to justify his view with certain examples and said-" for the purpose of spiritual upliftment age is immaterial. Some, who have resorted to asceticism in childhood, have not stood firm; but the number of elderly persons, still hot in pursuit of carnal pleasures, is not small. Hence, old age is no consideration in acquiring firmness of mind."[17]

Noor Mahal, the Empress, replied-"Asceticism is meant for those who have had their fill of sensual pleasures. Those who took to asceticism before having experience of these pleasures cannot distinguish what is essential form what is not. The mind of a man, who has not enjoyed these pleasures, always hankers after them."[18]

The sage replied in an extremely gently and sweet tone-"At present, just the reverse of what you said, is seen to happen. In the age in which we are born, every thing is topsy-turvy. The young observe religious vows, while the old break vows which they have already taken."[19]

Jahangir was convinced with the argument of the monk. In spite of that Jahangir tried to convince him to marry and lead a happy

married life, giving many instances to prove the futility of life that the position of householder is the highest, because the very existence of others depends upon it. Jahangir further told him, "In this world you are leading a miserable life. Your life in the next world will be more miserable, because you are intent transgressing the path prescribed by God."[20]

Siddhicandra promptly replied that to deviate from his vow is an action of a coward. The Emperor, thereupon, become angry, and ordering a vicious elephant to be brought up, put before the monk, and told- either he should accept a wife with lands and wealth or be trampled to death by the furious animal. But, to the astonishment of all , the monk stood firm, calmly facing imminent destruction.21 This incident is supported by *'Vijayatilaka-rāsa-adhikāra'*, *'Śrī Yugapradhāna-nirvāna-rāsa'* and other Jaina works, as remaining firm at Jahangir's order, even under the threat of being trampled under the feet of an elephant. At last, Jahangir, seeing his firmness ordered that he should retire to a forest for disobeying the Imperial wishes. Siddhicandra, therefore, left the court and went to Malpur in Jaipur state.[22]

Akbar had given the royal patronage to Tapāgaccha and to the Sūris of the Kharataragaccha. Jinacandra Sūri was given the title of '*Yuga Pradhāna*'. This was also followed by Jahangir. In 1612 AD, Jahangir was incensed at the misconduct of a Darshani (Monk): and in a fit of passion, not only had him expelled, but ordered all the Jaina-monks to be banished from his realm. In this crisis, the Jaina-saṁgha of Agra requested their religious head, Jinacandra Sūri to come to Agra and intercede with the emperor. Sūri came and discoursed before the emperor, and ultimately, Jahangir with drew his orders.[23] This incident is supported by Jaina literary sources and by an inscription dated 1619 AD, in a temple on the hill Śatruñjaya, in which after referring to Jinacandra's influence on Akbar, it adds : "Hc appeased the angry Jahangir and protected the *Sādhus* banished by him."[24]

After his return from the royal-court, he died. Mana Simha, who also accompanied him to Akbar's court at that time, was also adorned with the title of 'Jina Simha Suri' and enjoyed the dignity of an Ācārya. His disciple, Rajasamundra, says that he was honoured by Jahangir, who ordered Muqarrab Khan to invest on him the title of '*Yuga Pradhāna*' which was previously bestowed on his master Jinacandra. This is also supported by an epigraphic evidence.[25]

In 1617-18 AD, Jahangir was anxious to see him, and sent a *farman* to his officer asking him to send him to his court. Jina Simha, thereupon, left Bikaner but after he had passed through Medta, he died in 1618 AD. This evidence is also based on Jaina sources.[26] But, this evidence does not reconcile with the bitter and abusive remarks which Jahangir makes, in his memoirs, against Mana Simha, which will be discussed later.

In 1613 AD, Jahangir was in Ajmer, where he issued tow *farmans* in favor of the Jains. It is stated that Chandu Sanghavi (probably Saṁghapati, Chandrapara, of Agra) offered a precious gift to the Emperor, and prayed that ten Bīghās of land may be granted to him in village Akbarpur, for the purpose of building a temple and a garden in the memory of Vijayasena Sūri.[27] In making this grant, Jahangir undoubtedly followed his father's footsteps, who had made a similar grant, in 1595 AD, at Una in Saurashtra, for the deceased Jaina leader, Hīravijaya Sūri.[28] Thereupon, an order, shining like rays of the Sun and worth being obeyed by the world, was passed that Chandu Sanghavi be granted a plot of agricultural land measuring ten *bīghās* at Akbarpur in Chorasi Pargana, which is near Cambay, as a *jāgīra* known as '*madad-i-maash*'.[29] Jahangir had given special order that no trouble should be given to them and no demand should be made for dues of any kind. Thus, the land was made free from all *diwani* and *sultani* exactions for ever with a special instruction that the order which is (hereby) given should not be infringed and that all should consider as their duty due to the government.[30]

In July, 1616 AD, Jahangir issued a second *farman*. It says that Viveka Harṣa and Jayanand, the disciples of Vijayadeva Sūri, presented themselves before the emperor and begged for an urgent *farman* of the Jaina-monks who are virtuous and whose sole-function is the adoration of God. The *farman* was issued, ordering all the *jāgīradārs* and the administrative officers throughout the empire that they should allow these monks to attend their worship and devotion in perfect peace of mind, so that they may remain occupied in praying for the permanency of he victorious kingdom with happy mind.[31]

But, two years later, in 1618 AD, Jahangir records, the death of Mana Simha (Jina Simha Suri), in his memories, a great satisfaction at the news of the death of Mana Simha, who was a leading member of the Kharataragaccha.[32] He had incurred the bitter dislike for Mana Simha when he predicted, at the time of Jahangir's accession, that his reign would not last for more than two years. This was mainly due to the fact that Mana Simha had sided with Khusrau and had prophesied the fall of the Mughal Empire. Moreover, the Jains were accused of having put temples and other buildings which were reported to have become centers of disturbances; their religious teachers were also accused of immoral practices.[33]

Emperor Jahangir appointed Muqarrab Khan as Viceroy of Gujarat, who proceeded for the province and met Bhānucandra at Jalor where he was passing the monsoon season. The *Upādhyāya* submitted his complaints against Vijayadeva Sūri, the new head of the Tapāgaccha, and charged him with making common cause with the Sagar-group which was not following the behests of their late pontiff Hīravijaya Sūri. This controversy among the Jaina religious teachers of Gujarat had engendered considerable bitterness, leading to the rise of rival pontiffs. In 1617, at a plenary **conference of Jaina-**monks held at Ahmedabad, a learned monk named **Rāmavijaya was** invested with the title of '*Vijaya Tilaka Sūri*', and proclaimed the *Ācārya* or Supreme-head of Tapāgaccha, thus depriving Vijayadeva Sūri of this position.

In 1617, Vijayadeva Sūri arrived at the court, at the royal invitation. The Emperor was so pleased and impressed at the discussion which took place that he bestowed upon him the title of '*Jahangiri Maha-Tapa*'. The grant of the title mentioned above is proved by the fact that it is engraved in various consecration inscriptions bearing his name.[34]

In order to reconcile the differenced between the Jaina monks, Jahangir also invited Ācārya Vijaya Tilaka Sūri and Bhānucandra to Mandu; Siddhicandra and Nandivijaya were also present. There was full-dress debate of propound the matter in dispute. The Emperor was wise enough not to force a decision upon either party, and he advised both sides to live peacefully and amicably.[35]

In August, 1618, Jahangir wrote a letter to Vijayadeva Sūri. It was a friendly greeting, in which Jahangir appreciated the good behavior and the intellect of Dayākuśala Paṅyāsī, who was the disciple of Vijayadeva Sūri. Jahangir requested the Jaina Ācārya to ask for something, assuring him about the fulfillment of his wishes, if the *Ācārya* brings any matter to the Emperor's notice.[36]

Bhānucandra used to come to the court as usual and the King also honored him suitably. But, it was clear to the cunning eyes of the King that sadness had settled on the face of Bhānucandra. He knew from his talk with Bhānucandra that the reason was the injustice meted out to Siddhicandra. The feeling of friendship rose in his heart, he became repentant and corrected his misdemeanor by recalling Siddhicandra who immediately responded to his invitation and came to Agra. The Emperor respectfully granted an interview and asked for apology for his ruthless treatment. Siddhicandra humbly and affectionately gave an adequate reply. They became delighted and the lost relation was revived with former force and Siddhicandra thus became entitle '*Jahangir pasand*' (Favorite o Jahangir).[37]

It is also said that the title of '*Khush-faham*' (a man of sharp intellect) was conferred upon Siddhicandra for his '*avadhānas*' not

only by the Emperor Akbar Jalaluddin but also by the Emperor Jahangir Nuruddin, and the latter further invested him with the title of '*Nadira-Jaman*' (the unique of the age).[38] This conferring of title to Siddhicandra by the Emperor Jahangir is supported by a manuscript copy of the colophon, date *Vikram Saṁvat* 1711, as seen in '*Lekha-Likhan-Paddhati*' which was written at the time of Jahangir, to whom he attributes the conferring of the title '*Khush-faham*' on the Jain-Monk Siddhicandra and also the conferment of the title '*Nadir-i-Zamana*' on the said monk.[39]

इति महाराजाधिराजपादशाह - श्रीअकब्बरजल्लालदीनसूर्यसहस्रनामाध्यापक श्रीशत्रुंजयतीर्थंकर-विमोचनगोवधनिवर्त्तनाद्यनेकसुक्कतविनिर्मापकमहोपाध्याय-श्रीभानुचन्द्रगणिशिष्ययुगपट्टोत्तरशतावधान- साधनप्रमुदितपादशाहश्रीअकब्बरजलालदीन पादशाह श्रीजहांगीर नूरुद्दीनप्रदत्तखुश्फहमनादिरजमां द्वितीयामिधानमहोपाध्याय-श्रीसिद्धिचन्द्रगणिविरचितालिखनिखनपद्धतिः समाप्ता ।

लिखितीय' विद्यायुरे सं० १७११ वर्षे (११)

All these evidences show that Bhānucandra and Siddhicandra has intimate relations with the Emperor Jahangir; especially Siddhicandra's talent, intellect, repartee and physical handsomeness attracted Jahangir, which took the form of a fast friendship.

It is sad about Siddhicandra that once thirty two thieves at Burhanpur were at the point of being put to sword, when Siddhicandra obtained an imperial-*farman* and saved all of them from being put to death. Similarly, many nobles were saved from punishments. Jayadasa and Appo Lad Banias who were sentenced to be trampled under the feet of an elephant on account of their killing an elephant wrongfully, were got released by Siddhicandra.[40]

After 1618 AD, no further reference to Jahangir's contact with the Jaina religious teachers are available either in the '*Tuzuk-e-Jahangiri*' or in Jaina literary sources. Thus the glorious chapter of the Jainism and their relation with Emperor Jahangir came to an end. '*Bhānucandra-caritra*' also ends here.

Reference:

1. *Bhānucandra-caritra*, Siddhicandra Upādhyāya, Tr. and Edi. Mohanlal Dalichand Desai, Singhi Jaina Granthmala, 1941, Introduction, p. 28.
2. *Ibid*, Intro. p. VIII.
3. *Ibid*, VIII.
4. *Ibid*, p. 82; *Surishwar and Samrat*, Muniraj Vidyavijayaji, p. 387.
5. *Jalayātrā* means a procession in which ceremonial water to be sprinkled on the idol is being carried.
6. *Bhānucandra-caritra*, p. 50.
7. *Ibid.*, p. 84.
8. *Ibid.*, p. 83-84; *Surishwar and Samrat*, p. 383.
9. It was the custom among the Jaina *Saṁghas* to send an 'Annual-letter' at the time of their holy *Paryūṣaṇa* festival, to their Chief Ācārya, conveying to him their greetings, asking for the forgiveness of their sins, recounting any meritorious deeds performed by them during the year that had ended, deeds performed by them during the year that had ended, and inviting the *Guru* to spend that ensuing *cāturmāsa* or monsoon period with them. These letters came to be known as '*Vijñaptipatra*'.
10. M.S. Commissariat, *History of Gujarat*, Vol. II, 1957, p. 258-259.
11. *Bhānucandra-caritra*, p. 51-52.
12. The title of '*Upādhyāya*' was bestowed on Bhānucandra by Akbar, but the privilege of granting the title was vested in the head of the Jaina Church; So, Abul Fazl ordered to write to Hīravijaya Sūri to confirm and make valid this title, and the *Ācārya* willingly sent a letter to that effect.

13. *Bhānucandra-caritra*, p. 52.
14. *Ibid.*, p. 53.
15. *Ibid.*, p. 53.
16. *Ibid.*, p. 54.
17. *Ibid.*, p. 54.
18. *Ibid.*, p. 55.
19. *Ibid.*, p. 55.
20. *Ibid.*, p. 55.
21. *Ibid.*, p. 57.
22. *Ibid.*, p. 57-58.
23. *Proceedings of the Indian History Congress*, 6th Session, 1943, p. 344-347.
24. *History of Gujarat, op.cit.* p. 261.
25. *Epigraphica Indica* II, p. 37.
26. *Proceedings of the Indian History Congress*, 6th Session, 1943, p 345.
27. *Surishwar and Samrat*, p. 393.
28. *Bhānucandra-caritra*, p. 41.
29. *Ibid.*, p. 87.
30. *Ibid.*, p. 86-87; *Surishwar and Samrat*, p. 393.
31. *Imperial Mughal Farmans in Gujarat*, Journal of the University of Bombay, Vol. IX, part I, July, 1940, p. 26-29, Plates 1 and 1 A.
32. *Tuzuk-e-Jahangiri*, Emperor Jahangir, Tr. Rogers and Beveridge, vol. I, p. 437-438.
33. *Mughal Empire*, Edi. R.C. Majumdar, Bharti Vidya Bhavan, Vol. VII, p. 194

34. *Bhānucandra-caritra*, p. 20-21, 64; *Proceedings of Indian History Congress, op.cit.*, p. 346-347.

35. *Bhānucandra-caritra*, p. 62-64.

36. *Ibid.*, p. 91; *Surishwar and Samrat*, p. 390-391.

37. *Ibid.*, Intro., p. IX.

38. *Ibid.*, p. 65.

39. Quoted in *Din-e-Ilahi*, M.L. Roychaudhary, p. 97.

40. *Bhānucandra-caritra*, p. 64.

*

Śramaṇa, Vol. 58, No. 2-3
April-September 2007

Jainism and Meat-Eating

M.V. Shah*

एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंञ्चणं।
अहिंसा समयं चेव, एतावतं विआणिआ।। सूयगडांग सूत्र,[१]

It is an indisputable fact that the very root on which the edifice of Jainism stands is *'Ahiṁsā'*. Coming across certain phrases or sentences in the Jaina scriptures, some are led to believe that in the times gone by meat-eating was common among the Jains including the Jaina monks. In old times some people used to think in the same way and in modern times, too, the learned Prof. Hermann Jacobi and Prof. Hoernle followed the same wake of belief. This controversy was revived latter on by a renowned scholar of Buddhism, Pt. Dharmanand Koshambi. In his publication *'Bhagvāna Buddha'* the learned writer has touched this subject, giving references of *Jain Sūtras*, that just as Lord Buddha and his disciples were used to meat-eating, Lord Mahāvīra and his disciples were also used to the same thing.

Many scholars of Jainism have, before this, tried to refute this way of thinking, and this article, too, is nothing but an honest effort on my part to further expound this subject.

In three Jaina scriptures we come across a few sentences in which are used the words अट्ठिअं, मंसं and मच्छं, - this is the circumstance which has given rise to so much controversy, because the critics have interpreted such words in their own way and naturally the readers are lead by the interpretations of these critics. But interpretations cannot be said to be infallible. Because it is almost the daily experiences of a student of language that the same work admitting of

* *With curtsey -Bhāratīya Vidyā, Vol. V*

different meanings can be construed in varied ways by different writers and readers according to their own understanding and knowledge not only of the language but of the subject or *Śāstras* which they try to explain.

Though this subject has been dealt with in detail in 'जैनदर्शन अने मांसाहार' published in Gujarati and Hindi by the writer of this article, and attempt has been made here to publish this article, in a concise form in English, with a view to draw the attention of Jaina and Non--Jaina scholars of *'Ardha-Māgadhī'* and request them to evince interest in the subject and give their learned and well considered opinion on the interpretations given here.

Ācārāṅga, Daśavaikālika and *Bhagavatī* are three of the old Jaina *Sūtras*. The first two of these are virtually the authoritative code of Ethics for the Jaina monks. The words अट्ठिअं, मंसं and मच्छं above referred to are used at certain places in these tow *Sūtras*, in which the observance of certain conditions is imposed on the monks regarding their vigilance while going out for and receiving गोचरी (food from door to door). Need it be said that those were the days when killing of animals for sacrifices at altars and meat-eating were very common among the people. And in *Bhagavatī Sūtra* a certain mention about the medical use of a certain food has been interpreted into meat eating by some of the critics.

These interpretations, therefore, are open to discussion and require elucidation by the language experts.

आचारांगसूत्र (Ācārāṅga-sūtra)

से भिक्खू वा (२) जाव समाणे से ज्जं पुण जाणेजा मंसं वा मच्छ वा भज्जिज्झमाणं पेहाए तेल्लपूययं वा आएसाए उवक्खडिज्जमाणं पेहाए णो खद्धं खद्धं उवसंकमित्तु ओभासेज्जा। णन्नत्थ गिलाणणीसाए। (६१९)[२]

'Oh, monk or nun, know by this that if you come to know that at a certain house meat and fist are fried and cakes or buns are also cooked in oil for the entertainment of guests you need, not

indiscriminately, go to such a house in a hurry and ask for alms. If it be unavoidably expedient to go, however, only for the sake of service to a sick monk, you can". (619).

This permission to go to such a house cannot in any way mean that the author of the *Sūtra* extends permission to receive meat in alms. The permission to go to such a house is only under exceptional and unavoidable circumstances of a sick monk, who may be in need of a light vegetarian food such as cakes and buns, which are not available at any other place. Under normal conditions, however, a monk or nun has to keep away from such places, even though they may be answering to certain of his or her requirements. This saves them from the blame to which, otherwise, they can be exposed by indiscriminate critics.

A household contains so many articles and things, the use of some of which may be permissible to the monks and nuns and that of the others not permissible. If a monk goes to such a place he goes only for the permissible ones. It is not fair and just, on the part of the critics, therefore, to put wrong construction and say that he goes and receives non-permissible things too.

2nd quotations under dispute :-

से भिक्खू वा (२) से ज्जं पुण जाणेज्जा, बहु अट्ठियं मंसं वा बहुकंटगं, अस्सि खलु पडिगाहितंसि अप्पे सिया भोयणजाए, बहुउज्झियधम्मिए तहप्पगारं बहुअट्ठियं मंसं मच्छं वा बहुकंटगं लाभे संते जाव णो पडिगहेज्जा (६२९)

से भिक्खू वा (२) जाव समाणे सिया णं परो बहुअट्ठिएण मंसेण मच्छेण उवणिमंतेज्जा "आउसंतो समणा, अभिकंखसि बहुअट्ठियं मंसं पडिगाहेत्तए"? एयप्पगारं णिग्घोसं सकोच्चा णिसम्म से पुव्वामेव आलोएज्जा, "आउसो त्ति वा भइणि त्ति वा, णो खलु मे कप्पइ से बहुअट्ठियं मंसं पडिगाहेत्तए। अभिकंखसि मे दाउं जावइयं तावइयं पोग्गलं दलयाहि, मा अट्ठियाइं" से सेवं वदंतस्स परो अभिह अंडुतो पडिग्गहगंसि बहुअट्ठियं मंसं परिभाएत्ता णिहुट्टु दलएज्जा, तहप्पगारं पडिग्गहगं परित्थंसि वा परपायंसि व अफासुयं अणेणिज्जं लाभे संते जाव णो पडिगाहेज्जा। से

आहच्च पडिगाहिए सिया, तं णो 'हि' त्ति वएज्जा, णो 'अणहि' त्ति वएज्जा सेत्तमायाए एगंतमवक्कमेज्जा। अवक्कमेत्ता अहे आरामंसि वा अहे उवस्सयंसिवा अप्पंडए जाव अप्पसंताणए मंसगं मच्छगं भोच्चा अट्ठियाइं कंटए गहाय से त्तमायाए एगंतमवक्कमेज्जा अवक्कमेत्ता अहे ज्झामथंडिलंसि वा अट्ठिरासिंसि वा किट्टरासिंसि वा तुसरसिंसि वा गोमयरासिंसि वा अण्णयरंसि थंडिलंसि पडिलेहिय २ पमज्जिय २ तओ संजयामेव पमज्जिय २ परिट्ठवेज्जा। (६३०)[3]

The interpretation of para 629 is this : "A monk or a nun need not accept बहुअट्ठियं मंसं वा मच्छं वा बहुकंटगं in his or her alms, only for the reason that such foods contain much of the non-eatable and very little of the eatable parts.

The same thing has been reiterated, with greater stress, in details, in the next para, which says that, if a monk or a nun happens to go to a certain house for alms and any inmate of the house asks him or her whether he or she will accept बहुअट्ठियं मंसं he or she should say in reply that बहुअट्ठियं मंसं is not acceptable to him or her. He or she can accept only पोग्गलं and not अट्ठियाइं. In spite of this, if the host persistently puts बहु अट्ठियं मंसं in his or her vessel against his or her will, the monk or nun should use मंसगं मच्छगं the eatable part and should put away अट्ठियाइं कंटए the non-eatable part in a safe place such as burnt up ground *heap of bones*, heap of scrape iron etc. which should be devoid of insects and other small creatures".

In the first instance let me try to explain the meaning and use of the words, which I have used in the original untranslated form in the above paragraph, because most of the critics have taken their stand on these words and interpreting them in their own way, have gone so far as to say that meat-eating was common among the Jains of old.

It is quite evident that in the compound बहु अट्ठियं the latter part is अट्ठियं, and not अट्ठि, because in the same quotation its own derivatives अट्ठियाइं and अट्ठिअेण are used[4]. अट्ठि (सं० अस्थि)= bone.

अट्ठि (सं० अस्थि०) = bone.

अट्ठिअ (सं०अस्थिक०) = As hard as bone; seed.[5]

The original writers of the *Sūtra* are quite conscious of the difference in the meanings of अट्ठि and अट्ठिअ therefore in the first part of the quotation under discussion where the writer intended to refer to *seed* the word **अट्ठिअ** is used i.e. बहुअट्ठियं अट्ठियाई अट्ठिअेण and in the latter part where he intended to refer to *bone* the word **अट्ठि** is used i.e. **अट्ठिरासिंसि** heap of *bones.*

The difference in the meanings of these two words, given in the above text, from the literary standpoint is much convincing to the common sense also, and these words are used in their respective meanings in scriptural quotations given below.

अट्ठि = bone.

1. अट्ठिमिज्ज पेमाणुरागरत्ता।

One whose love for religion is as far deep rooted as the marrow of the *bones6*

2. अट्ठिचम्मावणद्धे - A skeleton of *bones* wrapped in skin.[7]

3. तओ पितियंगा पन्नता तं० अट्ठिमिज्जाकेसमंसुरोमनहे।

The following are the paternal contribution in the constitution of a child- *bones,* marrow, hair and nails.[8]

अट्ठिअ = Stone of a fruit. 2. seed.

1. रुक्खा दुविहा पन्नता तं० **एगट्ठिया (एग + अट्ठिया)** य बहुबीया य

There are two kinds of trees yielding fruits, having one *seed* or many seeds.[6]

2. पोग्गलं दलयाहि, मा **अट्ठियाइं**

Give me the soft pulp of a fruit but not the seeds.[10]

3. **सअट्ठियं** सकणुयं सबीयगं।

(Water) containing a *stone of a fruit,* a particle or a seed.[11]

4. तत्थ से भुंजमाणस्स, **अट्ठिअं** कंटओ कंटओ सिया। तणकट्ठसक्करं वावि, अन्नं वावि तहाविहं।।

While taking his meal if a monk happens to feel in his morsel *a seed,* a thorn, a straw, a bit of wood, a small stone etc.[12]

As shown above अट्ठिय means seed and बहुअट्ठिय means having many seeds. The latter being adjective of मंसं, मंसं cannot mean flesh, because flesh does not contain seeds; but it means only the pulp or soft part of a fruit, and the use of मंसं in this sense is well known.

मंस = (सं० मांस०) 1. Flesh, 2. Fleshy part of a fruit.[13]

मंस in the sense of a pulp of a fruit has been used in the *Sūtras,* in English language, in Botany and even in the medical sciences as can be ascertained from the following authorities.

Sūtra. बिंट **मंस** कडाह एयाइं हवंति एगजीवस्स।।

The stalk, the pulp and the skin (of a fruit) have one life.[14]

English. Flesh, Soft pulpy substance of fruit.[15]

Botany. Fleshy part of a fruit.

Medical Science खादु शीतं गुरु स्निग्धं **मांसं** मारुतपित्तजित् ।

While describing the properties of a Bijorā fruit the word **मांस** is used for the pulpy part of that fruit.[16]

In this way बहुअट्ठिअं मंसं means 'the pulp of a fruit with many seeds.'

Now let us further examine the meaning of मच्छं वा बहु कंटगं which is used in the same sentence. In the sentence बहुअट्ठियं मंसं **वा,** मच्छं **वा** बहुकंटगं, the word **वा** is twice used. The word **वा,** according to Āpte, can be used in two ways,

वा = (1) as an alternative conjunction meaning or, and, also.

(2) as a figurative attribute equivalent to व इ meaning *Like*[17]

The following examples respectively show that वा is used in both the above senses in Jaina scriptures.

(1) से भिक्खू **वा** भिक्खूणि **वा** से ज्जं पुण जाणेज्जा ।

Oh monk *or* nun, again know by this.[18]

नाहं रमे पक्खिणि पज्जरे **वा** *Like* a bird shut up in a cage which does not feel happy.[19]

The said sentence बहु, अट्ठियं मंसं वा, मच्छं वा बहुकंटगं if arranged in syntactical order will run as follows: - मच्छं वा बहु कंटगं वा बहुअट्ठियं मंसं (णो पडिगाहेज्जा) and which means (Do not accept) the soft pulp of a fruit containing many seeds or anything hard like the fish bone.

Thus taking the first वा as a particle showing comparison and the second वा as a conjunction and making no change in the meaning of मच्छ and कंटग, we can derive from this sentence a meaning quite consistent with the fundamental principle of Jainism viz., *'Ahiṁsā'*. It can be seen from the above statement that the above phrase refers to vegetarian food only and not to fish or meat-eating as is thought by the critics.

In the remaining part of the above quotation वा is used at some places and at others it is omitted. It is, therefore, more befitting to translate that part also by way supplying the ellipsis.

In this sentence वा is used in its two different meanings in close proximity and this practice is not infrequent in the scriptures.

एवं बहुहिं कयपुव्वं, भोगत्थाए जेऽभियावन्ना।

दासे मिइव पेसे **वा**, पसुभूतेव से ण **वा** केइ।।[20]

One, who is blind in love of a woman and who for the satisfaction of one's passions, does all the sinful actions, is *like* a slave, a deer, a menial, a dumb driven creature or the humblest of the humble.

Our contention is not about the use of the words, but the meanings or interpretation of the words used. It is only the etymology and syntactical rules, as well as the common practice or usage in language and last but not the least the context, which help us to arrive at the correct interpretation of a word.

The following few explanations will help a great deal in interpreting and understanding the texts of the quotation under discussion.

(1) A host when offering food to a monk uses the words मंस and मच्छ and the author of the text in permitting a food does not use the same words मंस and मच्छ, but their forms मंसगं and मच्छगं. What should be the motive in using this 'ग' ending" It is used to impart to it the idea of a simile, meaning thereby something similar to flesh or fish but not flesh or fish itself.

(2) The practice of giving the illustration of मत्स्य must have been frequently resorted to by writers in those days, as it is evident from the following -

Patañjali in his *Mahābhāṣya* and Vācaspati Miśra in his *Tātparya Mīmāṁsā* make use of this illustration as follows :-

कश्चित् मांसार्थी मत्स्यान् सशकलान् सकण्टकान् आहरति

नान्तरीयकत्वात् स यावदादेयं तावदादाय शकलकण्टकानि उत्सृजति।।[21]

तस्मान्मासार्थीव कण्टकान् उद्धृत्य मांसमश्नन्नानर्थं कण्टकजन्यमाप्नोतीत्येवं

प्रेक्षावान् दु:खमुद्धृत्येन्द्रियादिसातं सुखं भोक्ष्यते.।।[22]

A meat-eater brings fish with its scales and thorns as they are inseparable, but he eats only the flesh, the eatable part and throws off the scales and the thorns, the uneatable hard stuff.

3. Following are some of the many examples of vegetarian food which are acceptable to the Jaina monks, and which answer to the properties as described in the text by the author e.g.

(1) Cooked vegetables of* बोर, गुदा, शींगोडा, सरगवो, etc.

(2) Pickles of गुंदा, dates and mangoes.

(3) Small pieces of sugar cane.

---

*बोर = *Zizypghus Jujuba*, गुदा = *Cordia-Latifolia*,
शींगोडा = *Trapa bispinosa*, सरगवो = *Moringa Pterigo-sperma*.

(4) Slice of a mango or any such fruit with skin but without seed.

(5) A piece of cocoanut with its shell attached to it.

Some of these contain seeds or uneatable hard parts and others have skin or hard shell.

(4) The author in the same quotation lays particular stress regarding the place where, the manner in which and the scrupulous care with which the seeds and the uneatable parts should be put away, so that even the humblest of the sensible life may not be hurt. It is quite incomprehensible and unbelievable, therefore, that the same author in the same quotation may allow a monk to accept as alms fish and fleshy food which unequivocally implies the killing of more useful lives.

दशवैकालिक सूत्र (Daśavikālika-sūtra)

बहुअट्ठियं पुग्गलं, अणिमिसं वा बहुकंटयं।
अत्थियं तिंदुअं बिल्लं, उच्छुखंडं व सिंवलिं।।७३।।
अप्पे सिया भोयणजाए, बहुउज्झियधम्मिए।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ।।७४।।[23]

These verses belong to *Daśavaikālika Sūtra* and its subject matter is nothing but a re-echo of the precepts given in the *Ācārāṅga* and hence these also admit of the meanings given above. The words बहुअट्ठियं and बहुकंटयं used in *Daśavaikālika* are the same as those used in the *Ācārāṅga*, but the word अणिमिष (सं० अणिमिस (सं० अनिमिष = a creature without twinkling of eyes i.e. a fish) is a synonym of मच्छ and the word पुग्गलं is another Prakrit form of पोग्गलं. The word is used in the quotation of the *Ācārāṅga* as a synonym of मंस, and hence पुग्गलं[23] in this quotation, too, can be, unhesitatingly interpreted as 'a soft pulp of a fruit'.

Taking it into this light the first line of the verse favours the interpretation of the soft pulpy part of the fruit containing many seeds and uneatable hard stuff like a fish; and in the second line of

the same verse the author gives for the sake of clarification the names of such fruits viz, अत्थियं, तिन्दुअं, बिल्लं, उच्छुखंडं and सिबलिं. All these fruits contain the soft pulp and seeds or uneatable hard stuff.

In spite of such a simple and straightforward meaning and the instances of fruits, given in support of the above meaning in the same verse and the preceding and the following verses of the same chapter dealing with vegetarian food, if a critic tries to misinterpret it into fish and meat food, it can only be attributed to his want of knowledge of the subject or his ignorance of the language.

Some of the Jain Ācāryas in their commentaries have taken बहुअट्ठियं, बहुकंटगं, मच्छं and अणिमिसं to be certain kinds of vegetable and have commented the word "भोचा" as 'used for external purposes' but apart from that, in this article the meanings of the same words have been given quite differently on the authority of dictionaries and their various uses in different places.

भगवती सूत्र (Bhagavati-sūtra)

The following is the text in connection with the medicinal use by Lord Mahāvīra of a certain preparation when he was suffering from bilious fever and profuse discharge of blood in stool.

"तत्थ णं रेवतीए गाहावतिणीए मम अट्ठाए दुवे कवोयसरीरा उवक्खडिया

तेहिं नो अट्ठो, अत्थि से अन्ने पारियासिए मज्जारकडए कुक्कुडमंसए तमाहरादि एएणं अट्ठो"।।[24]

Abhayadeva Sūrī, one of the renowned and learned Jaina, Ācāryas, who has written commentaries on the nine (main or principal *Sūtras*) gives his comments as follows in respect of the above quotation.

"ततो गच्छ × × × × मदर्थ द्वे कूष्माण्डफलशरीरे उपस्कृते, न च ताभ्यां प्रयोजनं, तथाऽन्यदस्ति तद्गृहे परिवासितं मार्जाराभिधानस्य वायार्निवृत्तिकारकं कुक्कुटमांसकं बीजपूरक-कटामहमित्यर्थः, तदाहर, तेन न्: प्रयोजनमिति"[25]

The English version of this stanza is "you go to Mendhika where a certain mistress named Revatī has cooked two pumpkins into a certain preparation for my use. I cannot make use of that. However she has got the pulp of 'Bījorā' fruit which is used as a medicine for the disease of 'Mārjāra Vāyu'. Go and get that for my use."

There are three disputable words in the above quotation. कवोय, मज्जार and कुक्कुडमंसए. These words are used in connection which medicinal purpose and their meanings should, therefore, be determined with the aid of dictionaries of medical words and as these dictionaries are mostly written in Sanskrit, we should also try to know their Sanskrit equivalents.

कवोय = सं० कपोत. कुक्कुड = सं० कुक्कुट.

मज्जार = सं० मार्जार. मंस = सं० मांस.

कपोत= 1. A fruit named पारावत.[26]

2. कूष्माण्डफल - white pumpkin.

The commentator has preferred the latter meaning because the colour of the white pumpkin is similar to that of कपोत i.e. pigeon and it has been common practice with the writers to use the same word for an animal or a vegetable if the external appearance, properties or other qualities of both are almost similar, e.g.

मत्स्यंडी= 1. Eggs of a fish.

2. Sugar (because its external appearance and the size of its crystals are similar to those of the eggs of a fish).

उंदरकर्णी= 1. Ears of a mouse.

2. A vegetable whose leaves resemble the ears of a mouse shape.

मंडुकी, कोल, चिल्ल, कुहन and many more can be cited in support of the above practice.

So - the commentator is right in taking कपोत as कूष्माण्डफल and that is the interpretation compatible with the words दुवे and सरीरा.

दुवे कवोयसरीरा = Two white pumpkin fruits.

मार्जार = (1) kind of a vegetable and it is used in that sense in the Sūtras also i.e.

(a) वत्थुलपोरगमज्जारपोइ वल्लीयपोलक्का.[27]

वत्थुलचोरगमज्जारपोइचिल्लिया [28]

Bhagavatī Sūtra, Śataka 21st.

2. A plant named 'Ratna Chitraka'. (Rāja Nighaṇtu).

3. A cat.

4. White pumpkin or gourd.[29]

5. A kind of disease.

मज्जारकडए = सं० मार्जारकृत prepared or made from a vegetable named Mārjāra or treated with Mārjāra.

But कडए is found nowhere to have been used in the sense of killed in Ardha-Māgadhī as interpreted by the critics.

कुक्कुट. = 1. A vegetable having leaves with four petals.[30]

2. Fruit of शाल्मलि tree.

3. मातुलुङ्ग = Bījorā fruit = Citron.

मंस = soft pulp of a fruit (as aforesaid in this article).

कुक्कुडमंसए = soft pulp of Bījorā fruit.

The reason for not adopting the first two meanings is evident as those vegetables have no medicinal use in such illness, but मातुलुङ्ग = Bījorā fruit pulp is used as a medicine for such a disease is therefore appropriate. Let us further see as to why कुक्कुट is interpreted as Bījorā (Citron). The feminine form of कुक्कुट is कुक्कुटी and मधु कुक्कुटी or मधु कुक्कुटिका is derived from कुक्कुटी. If the adjectival prefix मधु be omitted कुक्कुट, कुक्कुटी and कुक्कुटिका become synonymous.

Now मधुकुक्कुटी and मधुकुक्कुटिका = Bīrjorā = Citron (Vaidyaka-Śabda-Siṇdhu, Rāja Vailabha, page 708.) and कुक्कुटी also mean Bījorā and, therefore, the commentator has adopted that meaning. When the synonymous words used in connection with the animal life are used in respect of vegetable life, they bear the same meaning e.g.

Syn. Words.	*Animal life*	*Vegetable life*
कुमारी & कन्या.	and unmarried girl	aloe plant
धूर्त & कितव.	a rouge, a cheat	Dhaturā plant
कुक्कुट, कुक्कुटी, & कुक्कुटिका	cock or hen	Citron fruit

We have taken the disputable words as meaning vegetable plants and fruits on the authority of medical dictionaries, moreover they were useful because of their medicinal properties to cure the disease from which Lord Mahāvīra was suffering.

Even a scholarly commentator like Abhayadeva-Sūrī has understood the sentence to mean vegetable things, what objection can there be on our part to accept those interpretations? A great saint like Manu says "आर्ष संदधीत, न तु विघटयेत" that the words of great men should be carried on with a constructive bent of mind rather than destructive one. Accordingly we should also give interpretation which may maintain the fundamental principle of Jainism viz., *Ahiṃsā.*

Following are some additional arguments to support why the interpretations referring to animal life are not applicable in this case.

(1) Medical science does not advocate anywhere the use of animal flesh for the cure of such a disease.

(2) It is not only impossible but incredible that a person like Lord Mahāvīra, who raised hue and cry against animal killing would behave in manner detrimental to the most beloved principle of his life, and it is equally incredible that he himself would resort to meat-eating against his preaching to his followers that meat-eating is leading to hell.

(3) Revatī, a wise and discreet woman was a wife of a rich man and a followers of Lord Mahāvīra. She gave this medicinal food as alms for Lord Mahāvīra and it is mentioned in *Śāstras* that this act of hers raised her to the position of Devagati and an exalted place among the Tīrthaṁkaras of the cycle to come. It is appealing to the common sense to believe that a woman of this type would cook stale meat, keep it overnight, give it as alms for the Lord and for all that she would attain to the eminent position mentioned above?

In this was I have attempted to give literally and logically clear explanations, in keeping with the scriptural spirit, of the disputable portions in Jaina *Śāstras* which have given rise to frequent discussions and controversies.

Now I shall try to give the proofs on the authority of scriptures that Jainism strictly forbids meat-eating & drinking.

1. The following verse occurs in the *Daśavaikālika Sūtra*[31] :-

"अमज्जमंसासि अमच्छरीआ, अभिक्खणं निविगइं गया अ"

The writer says here that not only does a monk completely abstain from drinking and meat-eating nor feel jealous to see the happiness of others but unnecessarily and without sufficient reasons to do so, he does not very often use for his personal comforts foods like milk, curds. ghee etc. which stimulate the passions. In the same way at certain places in *Sūyagaḍāṅga, Praśnavyākaraṇa* and *Daśavaikālika Sūtras* the monks are addressed as 'अमजजामंसासिणो' meaning one who abstains from drinking and meat-eating. How could this be justified if a monk were allowed to behave otherwise?

(2) It has been mentioned in *Śāstras* more often than that :

(1) undertakings on extensive scale, (2) attachment for worldly things, (3) killing of animals & (4) meat-eating drag a man to the lower world.

चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरइयत्ताए कम्मं पकरेंति तं जहा

(१) महारंभयाए (२) महापरिग्गहयाए (३) पंचिदियवहेणं (४) कुणिमाहारेणं।[32]

(3) Out of the 12 Precepts (व्रत) in regard to the conduct of a Śrāvaka, the 7th enumerates the daily necessaries of his life and occupation. No mentions has been made in this about meat, eggs, wine etc. This goes to prove that *Śrāvakas*, too, abstained from these things. This statement is further confirmed by the fact narrated in *Upāsakadaśāṅga Sūtra* about the vows taken by Ānanda Śrāvaka in the presence of Lord Mahāvīra. In the same precept there are certain observances (अतिचार) prescribed.

अप्पोलिय-ओसहि-भक्खणयाए, दुप्पेलिय-ओसहि-भक्खणयाए.

(A *Śrāvaka* should not take corn-food half cooked or badly cooked). The word 'ओसहि' in this connotes the corn such as Bājari, Juwār and the like.[33] This further confirms our notion that the *Śrāvakas* were corn-eaters and not meat-eaters. Is it possible, therefore, that the religious sect who are corn-eaters themselves, may have amongst them the Supreme Soul and monks who may be meat-eaters?

4. The first sermon delivered by every Tīrthaṃkara after the attainment of *Kevalajñāna* runs as follows :- "The Tīrthaṁkaras of the past, the present and the future all invariably say, "Keep away from killing सर्वप्राण, सर्वभूत, सर्वजीत and सर्वसत्त्व (any and everything coming under the category of a life) and forbid and act of domination over a life, of causing life mental or physical torment or of causing to sever body and soul etc.[34]" It is equally impossible that such Tīrthaṁkaras would ever resort to meat-eating themselves or would suffer their followers to be meat-eaters.

Other arguments of the Critics

(1) One of the arguments proffered in support of their statement is that in those days the Brahmins used to offer sacrifices of animals at the altars, the people at large used to offer the lives of animals for

the propitiation of their deities, meat used to be publicly sold in the market, and vegetable food was not easily obtainable. On such grounds the critics draw their imaginary conclusion that the monks who had to live on alms used to accept meat-food.[35] Let us go deep into the propriety of this argument.

The animal sacrifices offered were from a religious standpoint and not with a view to their use as food. In the present days vegetable food and nuts are offered as sacrifice to gods and goddesses and it is then distributed among the inmates of the house and others as a sort of प्रसादि. In those days the animals sacrifice used to be distributed in the same way. For feeding the Yajñācārya, his assistants and other participants, however, delicious preparations of rice, other corns and vegetables, which were in abundance, were used.[36]

This supports our view that all the people in those days were not meat-eaters only because vegetable foods was also available in abundance.

Even in our times we see that in the countries where meat-eating is in vogue on a wider scale, there are men, who live only on vegetable food. So the existence of religiously vegetarian monks in the old days is not inconceivable.

In an agricultural country like India, the harvest of corn was not only abundant, but was sold cheap also, as no transportation or exportation was necessary in those days. It is unimaginable, therefore, that the people would ever think of using in daily life animal food only, which evidently involved the killing of animals-animals which are the backbone of their agricultural activities, and did not make use of vegetarian food at all, - circumstance which made it impossible for the monks, too, to get vegetarian food.

I may also make it clear that the monks, having got to maintain themselves by alms were allowed to accept acceptable alms from the

richest to the poorest door, and so they had no difficulty in getting the vegetarian food.

In this way detailed explanations have been given of the disputable passages and it has been proved on good authority that those passages referred to vegetable food only, that is, no trace has been found in the Jaina *Āgamas* to make us doubt that meat-eating was common among the Jaina monks and the Jaina sect of old, nor has it ever been known that meat-eating has been resorted to by any one of the many sects of Jains or any serious and sincere follower of Jainism in these days.

This proves beyond doubt that meat-eating was not at all prevalent among the Jains of old and is not so in these days too. Still if a researcher will be able to prove otherwise on the strength of his indisputable research, the question will certainly engage the attention of all for due consideration on that. It is, therefore, as futile as it is unnecessary to grope in the dark to find out a thing which does not exist at all.

My last request is that interpretations suggested by me of the disputable passages and the reasonings and arguments given in support thereof, may be well thought over and their propriety or appropriateness may be considered from the various standpoints, of usage in language, grammar, their context with reference to allied passages in the *Sūtras* etc.

In the end I bring this chapter to a close with a request to the interested readers and critics to overlook and draw my attention to the draw my attention to the drawbacks as no one can claim to be perfect and infallible.

References :

1. *Sūagaḍo , Jaina Vishva Bharati, Ladnun, 1984-1/85*
2. *Ācārāṅga Sūtra* by Prof. Ravji Devrāj, page 131.

3. *Ibid,* Page 134-135.
4. Derivatives of अट्ठि & अट्ठिअ

अट्ठि

Case	Singular	Plural
प्रथमा.	अट्ठि	अट्ठीणि, अट्ठीइं, अट्ठीइँ.
द्वितीय.	”	” ” ”
तृतीया.	अट्ठिणा	अट्ठीहि, अट्ठीहिं, अट्ठीहिँ,

अट्ठिअ

Case	Singular	Plural
प्रथमा.	अट्ठिअं.	अट्ठिआणि, अट्ठिआइं, अट्ठिआइँ
द्वितीया.	” ” ”	”
तृतीया	अट्ठिएण,	अट्ठिएणं, अट्ठिएहिं, अट्ठिएहिँ, अट्ठिएहि

5. Āpte's *Sanskrit-Eng. Dictionary*, page 103, *Jainägama Śabda - Saṅgraha*, page 36.
6. *Bhagavati Sūtra*, s. 2, Cha. VI
7. *Jñātādharmakathā, Adhyayana* Ist.
8. *Ṭhāṇāṅga sutta*- 3rd *ṭhāṇa*
9. *Jīvājīvābhigama Sūtra*, page 45.
10. *Ācārāṅga Sūtra*, 630
11. *Ācārāṅga Sūtra*, 599.
12. *Daśavaikālika Sūtra, Adhyayana V^th, gāthā 84.*
13. Āpte's *Sanskrit English Dictionary*, page 753
    Pāia-Sadda-Mahāṇṇavo, page 824 & 1274.
14. *Paṇṇvaṇā Sūtta*, Chapter on Vegetation, *gāthā* 12^th
15. *English Dictionary* by S. Ogilvie, page 292
16. *Suśruta Saṃhitā*, page 327
17. Āpte's *Sanskrit English Dictionary*, page 839.
    Jain-āgama Śabda Saṅgraha, p. 680
    Amarakośa, Śloka 248,page 288

18. *Ācārāṅga Sūtra-1/630*
19. *Uttarādhyayana Sūtra, Adhyayana 14th, gāthā 41.*
20. *Sūyagaḍāṅga Sutta*, 4/2/ 18th
21. *Pāṇini, Mahābhāṣya* 4-1-92.
22. *Tātparya-mīmāṁsā* 4-1-54.
23. *Daśavaikālika Sūtra, Adhyayana* 5th, *gāthā* 73- 74.
24. Āpte's Sanskrit English Dictionary, page 29
Pāia-Sadda-Mahaṇṇavo- page 40.
25. *Bhagvatī Sūtra*, s. 15, page 686.
26. *Ṭhāṇāṅga, Sūtra* 691, page 456-457.
27. *Suśruta Saṁhitā*, page 333, Chapter on fruit.
28. *Paṇṇavṇā Sutta*, Chapter on trees.
29. *Vaidyaka Śabda Sindhu*, Page. 889.
30. *Ibid*, p. 259.
31. *Daśāśrutaskandha- Cūlikā* 2nd, *gāthā* 7th.
32. *Ṭhāṇāṅga, Bhagavatī, Uvavāia* and *Uttarādhyayana.*
33. *Jaina āgama Śabda Saṇgraha*, p. 218.
34. *Ācārāṅga Sūtra, Adhyayana 4th.*
35. *Bhagavāna Buddha*, p. 107.
36. *Uttarādhyayana Sūtra, Adhyayana* 12th.

*

Śramaṇa, Vol. 58, No. 2-3
April-September 2007

Towards World Peace on the Wheels of 'Anekāntavāda and Syādvāda'

Dr. Jaya Singh*

The first World Peace Forum, held in Vancouver from June 23 to 28, 2006, expressed utmost regard for the ideal of peace without borders(world peace). It also voiced serious concerns towards the fact of illegal wars and occupations, erosion of civil liberties as also racism, global warming, renewed nuclear threats, the state of human rights in our world, poverty, disease, economic inequality and homelessness. At the end of an intensive and extensive round of purposeful and focused deliberations, the "Vancouver World Peace Forum concluded that a world without war is achievable. To that end we will heed the voice of civil society, and:

"We will build a just peace based on social justice, human and democratic rights, and economic equality.

"We will educate our children and youth to cultivate a culture of peace.

"We will recognize the needs and aspirations of all indigenous peoples.

"We will respect the dignity of difference.

"We will ensure the leading role of women and youth as peacemakers.

"We will declare war as a crime against humanity and demand an end to war.

"We will insist on the protection of the environment.

* *General Fellow, Centre for Philosophy, School of Social Sciences, Jawaharlal Nehru University, Delhi-110067*

"We will work to eliminate nuclear and other weapons of mass destruction and terror."[1]

We thus find that modern man stands in dire need of a philosophy of life that is built upon the foundations of and is conducive to world peace. Indian philosophy, with it's eternal ideal of *'vasudhaiva kuṭumbakam'*, is therefore, the obvious need of the hour, the urgently required panacea to the ills of the modern society, the key to a balanced and purposeful development. For long, our sages have nourished the minds and hearts of millions with eternal concepts such as *dharma, karma, yajña, ahiṁsā, sarvodaya, advaita, viśiṣṭādvaita, mokṣa, puruṣārtha, samādhi* etc. Jainism, one of the Heterodox systems of Indian philosophy has an important place in Indian philosophy. Nonviolence in ethics, non-absolutism (*Anekāntavāda*) in thought, qualified assertions (*Syādvāda*) in speech and non-possessiveness (*Aparigraha*) in society, are four pillars on which the whole Jaina philosophy is resting. '*Anekāntavāda* and *Syādvāda*', like above mentioned *ahiṁsā, sarvodaya,* etc. are the two gems of Jainism which if rightly implemented in all walks of life and Nation can be proved harbingers of peace - individual as well as social. The present paper endeavors to explicate the Jaina philosophy of '*Anekāntavāda* and *Syādvāda*' and explore their 'indispensability' towards attaining the coveted ideal of 'world peace'.

A careful analysis reveals that an in-depth approach towards the topic under consideration needs to be based upon two strong pillars. The first is the complete understanding of this doctrine of realistic and relativistic pluralism and the second is a proper analysis of the contemporary challenges to world peace and security.

I

The Jaina metaphysics or the theory of reality believes in the independent existence of innumerable material atoms (matter or *pudgala*) and innumerable individual souls (*jīvas*). Further, it says that each atom as also each soul has infinite characteristics of

it's own[2]. The term substance or *dravya* is used for the thing that possesses varying characteristics viz. attributes and modes. The attributes are the permanent and inseparable qualities of a substance whereas the modes are the changing and accidental qualities of a substance. Now, in keeping with this doctrine of the many-ness of reality or *Anekāntavāda*, Jaina philosophers define Reality as unity-and-difference or difference-and-unity. If we look at a substance from the point of view of substance, it is factual, enduring and one whereas if we view it from the point of view of modes, it is illusory, impermanent and many. To commit to any one-sided and conditional observation and analysis as the absolute is to commit the fallacy of one-sidedness or *Ekāntavāda*. Jaina philosophy takes into account the fact of the many-ness of reality and hence does not fall prey to the narrow perspective resulting from a partial or one-sided view.

The logical and epistemological side of the Jaina concept of reality (the metaphysical side of which is the doctrine of *Anekāntavāda*) is *Syādvāda* or the doctrine of relativity of knowledge. The doctrine explains that, since reality is infinitely complex and thus indeterminable by ordinary mortal means, human judgments are necessarily relative, conditional as also restricted. Thus word *'Syāt'* denoting the relativeness and doubtlessness must precede all our judgments. Different views, beliefs, judgments and the like expressions of human mind are all made from different standpoints. Confirmation assumes repudiation and repudiation assumes confirmation. The infinitely complex reality is real as also unreal, enduring as also illusory, universal as also particular, one as also many[3].

With regard to the above, the Jains talk of three kinds of judgments. The first of these is a case where a person commits a partial truth for the absolute truth and persists in his claim. The second is the situation where a person makes a partially true statement with no reference to the absolute or relative nature of his utterance or belief. The third condition is that whence a person states something

with full knowledge and acknowledgment of the relative, restricted and conditional nature of his conclusion. The Jaina philosophers give the respective names of *durnīti* or bad judgment, *naya* or judgment (the relative and restricted knowledge of one of the infinite aspects of a thing [4] and the judgment based on this is called *naya* and *pramāṇa* (validity of knowledge) to these three kinds of judgments. They further point out that a '*naya*' must be preceded by '*Syāt* ' in order to become a *pramāṇa*.

All things exist from the point of view of their own substance, form, space and time and are non-existent with regard to another substance, form, space and time. Jainism prescribes the need to have an understanding of the seven steps of the Jaina doctrine of *Syādvāda* called as *Saptabhaṅgī* (seven-fold predications) viz.:

1. *Syādasti* (relatively, a thing is real).

Example: From the point of view of substance the soul is real (permanent).

2. Syānnāsti (relatively, a thing is not real)

Example: From the point of view of modes the soul is not-real (impermanent).

3. Syādasti-nāsti (relatively, a thing is real as also not real)

Example: From the point of view of substance the soul is real and from the point of view of modes it is not-real.

4. Syād-avaktavyam (relatively, a thing is indescribable)

Example: Assertion about a thing from the point of view of substance and modes both simultaneously, is indescribable.

5. Syādasti ca avaktavyam (relatively, a thing is real as also indescribable)

6. Syānnāsti ca avaktavyam (relatively, a thing is unreal as also indescribable)

7. Syādasti ca nāsti ca avaktavyam (relatively, a thing is real, unreal as well as indescribable)

Thus viewed from the point of view of one's own substance, form, time as also space a thing is real as also existent. Viewed from the point of view of other substance, form, time and space a thing is unreal and non-existent.[5] Viewed from varying perspectives, a thing is real as also unreal. A thing is indescribable for it admits of different interpretations from different standpoints simultaneously.The last three predications are the combination of above four predications.

The Vedantins, who believe that reality is unchanging and differenceless, and the Buddhists, who regard reality as changing, are both right - though each from his own perspective. Also, neither complete destruction nor absolute origination is possible for what is cannot be turned into nothing and what does not exist cannot be made to exist. The stuff or the *dravya* of which the things are made continues whereas the forms, modes or *paryāya* undergo origination and decay. Thus, neither absolute permanence nor absolute impermanence is the truth. The truth lies in permanence-cum-impermanence, existence-and-nonexistence. Everything is real from the standpoint of it's own qualities and unreal from the standpoint of an alien nature or set of qualities. A soul is eternal from the standpoint of a substance and non-eternal from the standpoint of modes. Judgements may be neither purely affirmative nor purely negative. In effect, they may be both (at the same time) provided the thing--under consideration is viewed, on the one hand, from the point of view of it's own substance, nature etc. and, on the other, from the point of view of another substance, nature etc.

The fourth step of *Syāvāda* presupposes the distinction between 'absolute and relative'. It admits only of relatively indescribable nature of things and does not talk of objects as absolutely indescribable. Thus, the Jains believe that the thing which is absolutely indescribable

is meaningless and unreal and is recalcitrant to any kind of judgement about it. That which is only relatively indescribable, on the other hand, is neither unreal nor meaningless and hence admits of the possibility of judgements. The last three steps, as mentioned earlier, are the combination of the first four and hence, now, easier to understand.

II

A look into some of the major world events seems pertinent before one can correctly visualize the modern-day threats to peace. Terrorism, today, is breaking the globe into pieces:

'..... the terror attacks on London and Glasgow have reiterated that we cannot take peace for granted. Mumbai has just faced the first anniversary of that terrible day on July 11 last year when it's trains and commuters traveling home to their families were blown apart by seven bombs, planted in crowded compartments by nameless men.'[6],

'Amid growing struggle.....two car bombings on Monday rocked the Iraqi city, killing 85 people and injuring 180.'[7]

There are a number of instances where the minorities are subjected to varying forms of injustices, the have-nots are dominated and side-lined by the affluent class, the upper castes predominate the positions of eminence and there is violence and bloodshed perpetrated by the adherents of a particular creed or system of beliefs. Disputes, disbeliefs, differences of opinion lead to heinous crimes such as rape, robbery and even murder. The basic unit of the society i.e., the family is crumbling under different kinds of pressures. There is a clash of opinions and rift between the older and younger generation. The children are feeling the pressure of parental desire as also lack of understanding and falling prey to evils such as drugs, terrorism, suicidal attempts and murders. They are even vulnerable to depression and other neurological problems.

An informed analysis of these and the like calamities of our era reveals that it is the perception of one's own individual, caste, religious, social, economic, political and cultural ways, thinking and values alone as correct or superior that leads to the related (i.e. consequential) decay, degeneration and disasters. The inability to understand and give respect to the 'total picture' is the root cause of these contemporary dangers to world peace. In this regard, I would like to quote a passage (that aims at explaining this very need of looking at the 'whole') from *The Complete Works of Swāmī Vivekānanda*:

"A frog lived in a well. It had lived there for a long time. It was born there and brought up there, and yet was a little, small frog. Of course the evolutionists were not there then to tell us whether the frog lost its eyes or not, but, for our story's sake, we must take it for granted that it had its eyes, and that it every day cleansed the water of all the worms and bacilli that lived in it with an energy that would do credit to our modern bacteriologists. In this way it went on and became a little sleek and fat. Well, one day another frog that lived in the sea came and fell into the well.

"Where are you from?"

"I am from the sea."

"The sea! How big is that? Is it as big as my well?" and he took a leap from one side of the well to the other.

"My friend," said the frog of the sea, "how do you compare the sea with your little well?"

Then the frog took another leap and asked, "Is your sea so big?"

"What nonsense you speak, to compare the sea with your well!"

"Well, then," said the frog of the well, "nothing can be bigger than my well; there can be nothing bigger than this; this fellow is a liar, so turn him out."

That has been the difficulty all the while. "I am a Hindu". I am sitting in my own little well and thinking that the "whole world is my little well. The Christian sits in his little well and thinks the whole world is his well. The Mohammedan sits in his little well and thinks that is the whole world."[8]

It is thus very important for us to understand that it is the feelings that are the culprit. The values need to be questioned. The wisdom is lacking. We need integrated personalities. We need beliefs, decisions and actions that are made, after much thinking and analysis, in due awareness of the fact of their being limited to a particular standpoint of consideration. The significance of mature thinking is well brought out by Śrī Aurobindo in the following words:

"Our first necessity..... is that the young of India should learn to think - to think on all subjects, to think independently fruitfully going to the heart of things, not stopped by their surface, free of pre-judgments, shearing sophism and prejudice asunder as with a sharp sword, smiting down obscurantism of all kind as with the macc of Bhima"[9]

To be precise, we need to gain in wisdom by looking at the complete picture and being conscious of our mortal and practical limitations.

III

In a world where the seed of all forms of sorrows and violence lies in partial, adamant, selfish, restricted and misguided thoughts and actions, it is the understanding and imbibing of the wisdom inherent in the Jaina doctrines of *Anekāntvāda* and *Syādvāda* that can be one of the rare and much coveted wheel of humanity towards the ideal of world peace. These two jewels of Jaina wisdom whisper to the ears of the suffering humanity :

'All beliefs and judgments are based upon a particular perception of reality and hence can never claim absolute truth or existence.'

They teach us to understand the limitations of our thoughts and hence impart the value of respecting and accommodating others.

The whole is larger than the sum total of all of the particulars. The fact of the limited and partial nature of mortal beliefs and judgments melts away all those hard feelings. One's ego, intolerance and violent attitude evaporates when he or she is able to appreciate and understand the differences in our world. Reality is infinite, complex and multi-faceted. It is in the understanding of this that the beauty of diversity is recognized. Human beings can know only a very small segment of 'that which is'. Hence, all of their(mankind's) creeds and actions have a relative validity. It is the knowledge of this truth that fosters unity and takes us towards integration.

The feeling of brotherhood is encouraged when we realize that an individual or a community is the result of it's own specific environment and, therefore, the differences are natural. It is, in fact, unwise to expect similar views and reactions from people under dissimilar circumstances. To take it further, it is in paying genuine heed to the differences that we reach mature standpoints. It (the divergent beliefs as also ways as expressed by others) aids in knowing and taking into consideration that of which we are unaware.

To conclude, we can say that the world is a family. *Anekāntvāda* and *Syādvāda* are the eternal guardians of the peace, prosperity and wisdom of the vast stretch of the mother earth. They teach us love. They tell us to respect the complex and infinite nature of the multi-faceted reality. They bless us with the wisdom of understanding the limitations of human senses. It is indeed on the wheels of these that man stands assured of attaining the eternal longing of soul-peace. In the end, I quote the following words from Masami Sayonji, Chairperson of the World Peace Prayer Society:

"Peace on earth can only become a reality when all people rise above national boundaries, politics, religion and

ideologies. We need to celebrate our cultural diversities rather than using them as a reason for conflict.

"There has already been too much suffering for the sake of ethnic and national interest and gain. It doesn't matter how much power and prosperity a nation achieves if its people are the victims of prejudice and internal conflict.

"We believe that the future hinges on the capacity of each individual to embrace a commitment to universal love. We must begin to transcend the barriers which keep us from seeing ourselves as part of a global family. We have to start caring about what really happens to people. Our movement seeks to promote this compassionate spirit by helping people of all nations to experience their oneness.

"As we move forward into the 21st century we encourage all of you to take a positive step toward universal understanding. Touch people with the message of love. Pray for the peace and happiness of people in all other lands and cultures. Make a commitment to world peace by honoring the earth, honoring its people, and celebrating the unity of the human spirit."[10]

References:

1. See http://www.worldpeaceforum.ca/
2. *Anantadharmatmakameva tattvam, Anyayogavyavacchedikā*, p..22
3. *Anekamekātmakam, Ibid*,, 25
4. *Nīyate gamyate arthaikadeśo neneti nayaḥ, Syādvādaratnākara*, p. 8
5. *Svarūpa-dravya-kṣetra-kāla-bhāvaih sattvaṁ, pararūpa-dravya-kṣetra-kāla-bhāvais tvasattvam, Syādvādamañjarī*, p.176-7

6. *The Times of India*, Edit Page Mailbox, My Times My Voice, We cannot take peace for granted, p.16

7. See http://www.hindu.com/2007/07/17, Car bomb kills 85 in Iraqi city

8. See'http://www.ramakrishnavivekananda.info/Vivekānanda/vol_1/vol_1_frame.htm', *Complete Woks of Swāmī Vivekānanda*, Vol. I, Addresses at the Parliament of Religions, Why We Disagree.

9. Śrī Aurobindo, Archives and Research, April 1981, p.1-6

10. See 'http://www.worldpeace.org/inspiration.html'

*

श्रमण, वर्ष ५८, अंक २-३
अप्रैल-सितम्बर २००७

पार्श्वनाथ विद्यापीठ के प्राङ्गण में

निबन्ध-प्रतियोगिता

उद्देश्य

पार्श्वनाथ विद्यापीठ नवयुवकों के बौद्धिक विकास एवं जैन धर्म-दर्शन के प्रति उनकी जागरूकता को बनाये रखने के लिए निबन्ध-प्रतियोगिता का आयोजन विगत कई वर्षों से करता आ रहा है। इस कड़ी में यह पांचवीं निबन्ध प्रतियोगिता है।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ लम्बे समय से यह अनुभव कर रहा था कि लोगों को जैन धर्म-दर्शन की यथार्थ जानकारी होनी चाहिये, क्योंकि जैन दर्शन में ही विश्व दर्शन बनने की क्षमता है। इस निबन्ध-प्रतियोगिता का एक उद्देश्य यह भी है कि लोगों में पठन-पाठन एवं शोध के प्रति रुचि पैदा की जाय, जो विचारों के आदान-प्रदान के माध्यम से ही सम्भव है।

कौन प्रतियोगी हो सकते हैं ?

कोई भी व्यक्ति चाहे वह किसी भी धर्म, जाति, सम्प्रदाय का हो या किसी भी उम्र का हो इस प्रतियोगिता में भाग ले सकता है। पार्श्वनाथ विद्यापीठ के कर्मचारियों एवं उनके निकट सम्बन्धियों के लिये यह प्रतियोगिता प्रतिबन्धित है।

विषय

'अनेकान्तवाद : सिद्धान्त और व्यवहार'

आयुवर्ग के आधार पर निबन्ध के लिए निर्धारित पृष्ठ संख्या

(१) १८ वर्ष तक - डबल स्पेश में फुलस्केप साईज (८.५ ×१४) में टंकित (Type) पूरे पाँच पेज।

(२) १८ वर्ष के ऊपर - डबल स्पेश में फुलस्केप साईज (८.५×१४) में टंकित (Type) पूरे आठ पेज।

पुरस्कार

निर्णायक मण्डल द्वारा चयनित प्रतियोगी को निम्नानुसार पुरस्कार देय होगा-

१८ वर्ष तक के प्रतियोगी के लिये : प्रथम पुरस्कार २५०० रु०
द्वितीय पुरस्कार १५०० रु०
तृतीय पुरस्कार १००० रु०

१८ वर्ष के ऊपर के प्रतियोगी के लिये: प्रथम पुरस्कार २५०० रु०
द्वितीय पुरस्कार १५०० रु०
तृतीय पुरस्कार १००० रु०

विजेता प्रतियोगियों के नम्बर समान होने की स्थिति में पुरस्कार राशि विभाजित कर दी जायेगी।

प्रतियोगिता की भाषा

निबन्ध हिन्दी या अंग्रेजी दोनों भाषाओं में हो सकते हैं।

चयन की प्रक्रिया के निर्धारित मानदण्ड

- निबन्ध की गुणवत्ता, विचार सम्प्रेषण की स्पष्टता एवं उनका सम्यक् प्रस्तुतीकरण।
- निबन्ध में अपने कथन का सप्रमाण प्रस्तुतीकरण एवं आवश्यक स्थलों पर मूल ग्रन्थों से सन्दर्भ।
- भाषा का स्तर।

निबन्ध मूल्यांकन

प्रतियोगिता में प्राप्त निबन्धों का मूल्यांकन जैन धर्म-दर्शन के तीन लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों द्वारा किया जायेगा।

चयन-प्रक्रिया

- भेजे गये निबन्ध पार्श्वनाथ विद्यापीठ को :२८ फरवरी,२००८ तक स्वीकृत होंगे।
- समस्त निबन्धों की फोटो कॉपी बनायी जायेगी तथा प्रतियोगियों के उम्रवर्ग के आधार पर उन्हें एक विशेष कोड नं० दिया जायेगा।
- निबन्धों की फोटो प्रतियाँ (बिना लेखक के नाम के) जिनमें कोड नं० अंकित होगा प्रत्येक निर्णायक को भेजी जायेगी।
- निर्णायकों द्वारा अंकित निबन्ध प्राप्त होने पर उनमें क्रमशः प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय पुरस्कार के लए चयनित प्रतियोगियों की घोषणा की जायेगी।
- विजेता प्रतियोगियों के निबन्धों को पार्श्वनाथ विद्यापीठ से प्रकाशित होने वाली शोध-पत्रिका श्रमण के सन् २००८ के प्रथम अंक में प्रकाशित किया जायेगा।
- विजेता प्रतियोगी को पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी में एक सादे समारोह के अन्तर्गत सम्मानित किया जायेगा।

नोट : कृपया निबन्ध के साथ अपनी पासपोर्ट साइज का फोटो एवं हाईस्कूल सर्टिफिकेट की फोटो प्रति (Photocopy) अवश्य भेजें। निबन्ध के साथ एक सादे कागज पर अपने पूरे पते एवं फोन नम्बर सहित अपनी शैक्षिक योग्यता का विवरण भी भेजें।

Dr. S.P. Pandey delivers a Lecture at International Summer School for Jain Studies

New Delhi, on 28th August 2007, Dr. S.P. Pandey, Asstt. Director, Parshwanath Vidyapeeth delivered a lecture on "***Concept of Śila in Jainism***" at the International Summer School for Jain Studies, New Delhi. It is worth mentioning here that International Summer School for Jaina Studies organizes classes for foreign students and scholars every year since 2005 in order to promote the Jaina Studies in foreign countries. This program has been a great success. More than thirty scholars including Sarah Hadmack, Manao, Hawaii, Mr. Chuck etc. belonging to different group attended the course.

The whole credit of the success of the program goes to Mr. Shugan C. Jain, Hon. Director of the ISSJS. The students and faculty member of ISSJS had visited Parshwanath Vidyapeeth in June 2007 and appreciated the academic activities of the Institute.

*

श्रमण, वर्ष ५८, अंक २-३
अप्रैल-सितम्बर २००७

जैन जगत्

बिहार के +२ स्तरीय (कक्षा XI-XII) नवीन पाठ्यक्रम में प्राकृत सम्मिलित

बिहार में इंटर के वर्तमान पाठ्यक्रम एवं सी०बी०एस०ई० के वर्तमान पाठ्यक्रम के आधार पर निम्नांकित विषयों की पढ़ाई +२ स्तरीय शैक्षिक संस्थानों में करने का निर्णय मानव संसाधन विकास विभाग, बिहार द्वारा लिया गया है-

(i) भाषा समूह-

१. हिन्दी	२. उर्दू	३. अंग्रेजी
४. संस्कृत	५. बांग्ला	६. मैथिली
७. मगही	८. अरबी	९. फारसी
१०. भोजपुरी	११. पालि	१२. प्राकृत

उक्त भाषाओं में से प्रत्येक विद्यार्थी को ११वीं एवं १२वीं कक्षा में अनिवार्यत: दो भाषाएँ पढ़नी होंगी। यदि कोई विद्यार्थी चाहे तो उक्त भाषा समूह में से कोई तीसरी भाषा भी ले सकता है। लेकिन यह तीसरी भाषा उसके ऐच्छिक विषय की सूची में रहेगी। भाषा समूह के उक्त विषयों के पाठ्यक्रम सभी पढ़नेवाले विद्यार्थियों के लिए एक जैसे होंगे। ज्ञातव्य है कि पूर्व में राज्य में विज्ञान, कला एवं वाणिज्य के लिए अलग-अलग पढ़ाई होती थी, अत: भाषाओं के पाठ्यक्रम भी अलग-अलग होते थे। इस व्यवस्था को सत्र जुलाई, २००७ से समाप्त किया जा रहा है।

(ii) वैकल्पिक विषय समूह-

१. गणित	२. भौतिक विज्ञान	३. रसायनशास्त्र
४. जीव विज्ञान	५. कम्प्यूटर साइंस	६. इतिहास
७. राजनीतिशास्त्र	८. भूगोल	९. अर्थशास्त्र
१०. समाजशास्त्र	११. मनोविज्ञान	१२. दर्शनशास्त्र
१३. गृहविज्ञान	१४. संगीत	१५. विजनेस स्टडीज
१६. एकाउन्टेंसी	१७. इंटरनरशिप	१८. मल्टीमिडिया एवं बंद टेक्नोलॉजी
१९. योग एवं शारीरिक शिक्षा		

उक्त विषयों में से शिक्षार्थी को अनिवार्यत: तीन विषयों का अध्ययन करना होगा।

इसके अतिरिक्त शिक्षार्थी चाहें तो उक्त विषय (भाषा एवं वैकल्पिक) समूह में से किसी एक विषय को ऐच्छिक विषय के रूप में पढ़ सकते हैं।

बिहार परीक्षा बोर्ड में प्राकृत-पाली भाषा को सम्मिलित किये जाने के नेपथ्य में प्रो० रामजी राय, अध्यक्ष स्नातकोत्तर प्राकृत एवं जैनशास्त्र विभाग, वीर कुंवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा के अथक परिश्रम को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता है। उनके इस महनीय कार्य के लिए पार्श्वनाथ विद्यापीठ उनके प्रति अपना आभार प्रकट करता है।

डॉ० प्रेमसुमन जैन राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित

नई दिल्ली। भारत के राष्ट्रपति महामहिम ए०पी०जे० अब्दुल कलाम ने राजस्थान के जैनविद्या मनीषी प्रोफेसर डॉ० प्रेम सुमन जैन को पालि-प्राकृत साहित्य में निपुणता तथा शास्त्र में पाण्डित्य के लिए २१ मई २००७ को राष्ट्रपति भवन में आयोजित एक भव्य समारोह में प्रमाण-पत्र एवं शाल प्रदान कर सम्मानित किया। प्रो०जैन ने विगत ३५ वर्षों से प्राकृत भाषा एवं साहित्य के प्रचार-प्रसार और शिक्षण हेतु दर्जनों पुस्तकें लिखी हैं और लगभग १५० शोध-पत्र प्रकाशित किये हैं। डॉ० जैन मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर में प्राकृत विभाग के आचार्य एवं अध्यक्ष रहे हैं। सैकड़ों विद्यार्थियों को आपने प्राकृत भाषा की शिक्षा दी है और लगभग २० शोध छात्रों ने आपसे पी-एच०डी० के लिए निर्देशन प्राप्त किया है।

प्रो० जैन का जन्म मध्य-प्रदेश के एक छोटे से गाँव सिहुंडी में हुआ था, किंतु आपने कटनी, वाराणसी, वैशाली और बोधगया में शिक्षा प्राप्त कर अपने को देशव्यापी बना लिया। भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद के इस कथन ने आपको प्राकृत अध्ययन के लिए प्रेरित किया कि 'प्राकृत भाषा के अध्ययन के बिना भारत के इतिहास का ज्ञान अधूरा है।' डॉ० जैन ने प्राकृत अध्ययन द्वारा देश की संस्कृति के अनेक पक्षों को अपने साहित्य द्वारा उजागर किया है। आपकी **'कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन'** पुस्तक इस क्षेत्र की अनुपम कृति है। आपकी **'प्राकृत स्वयं शिक्षक'** पुस्तक ने हजारों लोगों को प्राकृत सिखाया है। परमपूज्य आचार्य श्री विद्यानंद जी महाराज की सत् प्रेरणा से आपने प्राकृत शोध-पत्रिका **'प्राकृतविद्या'** का सम्पादन प्रारंभ किया जो आज भी श्री कुंदकुंद भारती, प्राकृत भवन, नई दिल्ली से प्रकाशित हो रही है। प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर और राष्ट्रीय प्राकृत अध्ययन एवं संशोधन संस्थान श्रवणबेलगोला (कर्नाटक) आदि संस्थाओं से आप उसकी स्थापना काल से जुड़े रहे हैं।

प्रो० जैन को प्राप्त इस राष्ट्रीय सम्मान के लिए पार्श्वनाथ विद्यापीठ उनको हार्दिक बधाई देता है।

भोगीलाल लहेरचन्द भारतीय संस्कृति संस्थान, दिल्ली में प्राकृत भाषा एवं साहित्य के १९वें राष्ट्रीय ग्रीष्मकालीन विद्यालय उद्घाटन समारोह तथा आचार्य हेमचन्द्रसूरि तृतीय व्याख्यान सम्पन्न

दिनांक १३ मई २००७। भोगीलाल लहेरचन्द भारतीय संस्कृति संस्थान, दिल्ली में १० राज्यों से अध्ययनार्थ ३६ छात्र-छात्राओं ने ग्रीष्मकालीन विद्यालय में भाग लिया।

मुख्य अतिथि डॉ० सुधा गोपालकृष्णन् (निदेशक, राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन, नई दिल्ली) ने संस्थान द्वारा चलाये जा रहे इस पाठ्यक्रम की भूरि-भूरि प्रशंसा की। उन्होंने कहा कि आज समग्र भारतवर्ष में लगभग ५० प्रतिशत जैन पाण्डुलिपियां प्राकृत भाषा में निबद्ध हैं। वे संस्थान में अध्ययनार्थ आये छात्र-छात्राओं का आह्वान किया कि आप सब अच्छी तरह से पढ़कर आगे आकर प्राकृत भाषा व साहित्य को सुरक्षित करें जिससे कि आने वाली पीढ़ी पाण्डुलिपियों से लाभान्वित हो सके।

इस अवसर पर 'आचार्य हेमचन्द्र स्मृति व्याख्यानमाला' की तृतीय कड़ी में डॉ० दयानन्द भार्गव (पूर्व अध्यक्ष, दर्शन विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय, राजस्थान) ने अपने विद्वत्तापूर्ण व्याख्यान में अनेकान्त की नई रीति से विशद् व्याख्या प्रस्तुत की।

डॉ० जितेन्द्र बी० शाह (निदेशक, लालभाई दलपत भाई भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर, अहमदाबाद) ने कहा कि प्राकृत भाषा में भारतीय संस्कृति छिपी हुई है। बिना प्राकृत जाने भारतीय संस्कृति का सम्यक्-ज्ञान नहीं हो सकता।

पूज्य साध्वी सुनीताश्री जी महाराज द्वारा नमोकार महामंत्र, श्रीमती दीपशिखा जैन द्वारा सरस्वती वंदना एवं मुख्य अतिथि डॉ० सुधा गोपालकृष्णन्, श्रीमान् नरेन्द्र प्रकाश जैन, डॉ० जितेन्द्र बी० शाह, डॉ० दयानंद भार्गव एवं संस्थान के अध्यक्ष श्री विनोद भाई दलाल द्वारा दीप प्रज्वलन से कार्यक्रम का शुभारंभ हुआ। संस्थान के उपाध्यक्ष श्रीमान् नरेन्द्र प्रकाश जैन ने विजयवल्लभ स्मारक का परिचय एवं संस्थान की गतिविधियों पर प्रकाश डाला। श्री देवेन यशवंत (कोषाध्यक्ष, बी०एल०आई०आई०, दिल्ली) ने व्याख्यानमाला तथा वक्ता का परिचय दिया। कार्यक्रम के अन्त में डॉ० जयपाल विद्याशंकर (पूर्व निदेशक, बी०एल०आई०आई०, दिल्ली) ने धन्यवाद ज्ञापन किया। कार्यक्रम का संचालन डॉ० बालाजी गणोरकर (कार्यकारी निदेशक, बी०एल०आई०आई०, दिल्ली) ने किया।

'जैन श्रमणियों का बृहद् इतिहास' ग्रन्थ का अमृतसर में लोकार्पण

स्थानकवासी श्रमणसंघीय परम्परा की साध्वी पंजाबप्रवर्तिनी श्री केसरदेवी जी महाराज, श्री कौशल्यादेवी जी महाराज की विदुषी प्रज्ञावंत शिष्या साध्वी विजयश्री जी 'आर्या' द्वारा लिखित ग्रन्थ का लोकार्पण जैनविद्या के मूर्धन्य विद्वान् डॉ० सागरमल जैन (संस्थापक व निदेशक, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर) ने किया। सात अध्यायों में विभक्त एवं ११०० पृष्ठों में पूर्णता को प्राप्त इस ग्रन्थ में प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव से लेकर भगवान महावीर के शासन की अद्यतन श्रमणियों के आध्यात्मिक, सामाजिक, साहित्यिक एवं नैतिक योगदानों का वर्णन है।

डॉ० विजयश्रीजी म०सा० को ग्रंथ की प्रति समर्पित करते हुए प्रो० सागरमलजी जैन, शाजापुर; साथ में खड़े हैं मानवरत्न बाबू रामकुमार जी श्रमण शाल वाले लुधियाना।

साध्वी श्री के इस कार्य पर जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं ने उन्हें पी-एच० डी० की उपाधि से विभूषित किया है। लोकार्पण के इस अवसर पर अमृतसर जैन समाज के गणमान्य व्यक्ति उपस्थित थे।

डॉ० श्रीमती कृष्णा जैन 'वागर्थ' सम्मान से सम्मानित

ग्वालियर, ३० अगस्त, २००७। मध्य-प्रदेश संस्कृत बोर्ड भोपाल द्वारा संस्कृतोत्सव २००७ के अवसर पर मध्य-प्रदेश के ५० संस्कृतज्ञों को वागर्थ सम्मान से सम्मानित किया गया। ग्वालियर के महारानी लक्ष्मीबाई शासकीय उत्कृष्ट महाविद्यालय की संस्कृत प्राध्यापिका डॉ० कृष्णा जैन को भी प्रदेश के महामहिम राज्यपाल डॉ० बलराम जाखड़ ने टी०टी०टी०आई० सभागार, भोपाल में वागर्थ सम्मान से सम्मानित किया। इस अवसर पर प्रदेश के उच्च शिक्षा मंत्री लक्ष्मण सिंह

गौड़, राज्य शिक्षा मंत्री श्री पारस जैन भी उपस्थित थे। डॉ० जैन की इस उपलब्धि के लिए पार्श्वनाथ विद्यापीठ उनको हार्दिक बधाई देता है।

श्री हरिकिशोर प्रसाद सिंह को पी-एच०डी० उपाधि

श्री हरिकिशोर प्रसाद सिंह, पत्रकार मणिकपुर, सरैया, मुजफ्फपुर को बी०आर०ए० बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर द्वारा उनके शोध-प्रबन्ध - **'आचार्य पद्मकीर्ति विरचित पासणाहचरिउ का सांस्कृतिक अध्ययन'** पर पी-एच०डी० की उपाधि प्रदान की गई है। आपने अपना शोध-प्रबन्ध डॉ० मंजुबाला, प्राध्यापक, प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वासोकुंड, वैशाली के कुशल निर्देशन एवं मार्गदर्शन में सम्पन्न किया है। पार्श्वनाथ विद्यापीठ आपकी इस उपलब्धि हेतु आपको बधाई देता है।

श्री अशोक बड़जात्या 'समाजरत्न' से विभूषित

श्रवणबेलगोला। दिगम्बर जैन महासमिति के पूर्व राष्ट्रीय अध्यक्ष व भगवान बाहुबली महामस्तकाभिषेक समारोह २००६, समिति के संरक्षक, वरिष्ठ समाजसेवी उद्योगपति श्री अशोक बड़जात्या, इन्दौर को आचार्य श्री वर्धमान सागरजी महाराज ससंघ के सान्निध्य में श्रवणबेलगोला स्थित चामुण्डराय मण्डप में परम पूज्य जगद्गुरु कर्मयोगी स्वस्तिश्री चारूकीर्ति भट्टारक महास्वामीजी ने उनके द्वारा प्रदत्त उल्लेखनीय सेवाओं के लिए उन्हें **'समाजरत्न'** की उपाधि से विभूषित किया। इस अवसर पर परम पूज्य आचार्य श्री वर्धमानसागरजी महाराज ने अपने उद्बोधन में कहा कि समाज सेवा का कार्य करना अत्यन्त कठिन है। समाज सेवा के साथ समाज को संतुष्ट करना और भी कठिन है। श्री अशोक बड़जात्या ने सामाजिक कार्य कर समाज को संतुष्टि प्रदान की है, यह एक उल्लेखनीय कार्य है, उन्हें आशीर्वाद है कि वे समाज को संगठित कर तीर्थ रक्षा के कार्यों में भी अपनी सेवाएं प्रदान करें। परम पूज्य जगद्गुरु कर्मयोगी स्वस्तिश्री चारूकीर्ति भट्टारक स्वामीजी ने अपने उद्बोधन में कहा कि महामहोत्सव २००६ में अपनी सूझ-बूझ व परिश्रम से श्री बड़जात्या ने जो कार्य किया है वह प्रशंसनीय है वे समाज के बिरले व्यक्ति हैं जिन्हें 'समाजरत्न' की उपाधि से विभूषित करते हुए

उन्हें हर्ष है। श्री अशोक बड़जात्या को परम पूज्य स्वामीजी ने अभिनंदन-पत्र, शाल, श्रीफल व रत्न-जड़ित रजत कलश स्मृति स्वरूप भेंट किया।

Shri Shori Lal Jain passed away

Shri Shori Lal Jain was born at Lahor, Pakistan on 5.8.1922 in the well reputed family of Lala Mehtab Rai, Chhaju Ram Jain. He was married to the daughter of Lala Laxman Dass Jain of Kapurthala, Punjab running jewellery business. At the age of 18 he started working in Indian Optical Co. Lahore and from there he learnt the manufacturing of Ophtathmic lenses, then after partition he shifted to Kapurthala and started his own factory there. Then in the year 1956 he shifted his factory to Delhi and started shop at Ballimaran, Delhi which is being run today by his elder son and grand son in the name of Jain Optical Co.

He served the following Associations and societies:

1. He served as Secretary for some years at Kapurthala, for S.S. Jain Sabha, Kapurthala.

2. He was the present, President of S.S. Jain Sabha, Dilshad Garden, which he held for more than 10 years.

3. He was the present President of Dilshad Public School, Dilshad Garden, He held this post for 3 years.

4. He was the present President of Dilshad Residents & Plot Holders Association. He held this post for more than 30 years.

5. He held the post of President, Delhi Opticians Associations (Regd.), Delhi at least for 5 terms.

6. He held the post of President, Treasurer and convener of Federation of All India Optical Associations.

7. Above all he joined Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi about 60 year back. He was very much inclined towards this Institute that he always talked about.

He left behind, well established business, two sons and three daughters, we are all well settled and married to all reputed Jain families. His younger son, Dr. Ashok Kumar Jain, settled in U.S.A. since 1971, is employed in U.S. Army (Civilian) as Project Director.

He held all the above post as Honorary.

Rajinder Kumar Jain
Delhi

पार्श्वनाथ विद्यापीठ के पुस्तकालयाध्यक्ष श्री ओमप्रकाश सिंह को पितृशोक

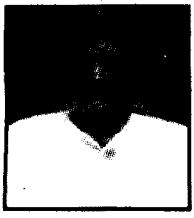

१ सितम्बर, २००७, वाराणसी। पार्श्वनाथ विद्यापीठ स्थित शतावधानी रत्नचन्द पुस्तकालय के पुस्तकालयाध्यक्ष श्री ओमप्रकाश सिंह के पिता श्री आत्माराम सिंह का ९६ वर्ष की उम्र में निधन हो गया। श्री सिंह एक धर्मपरायण, अत्यन्त सरल स्वभावी एवं मृदुभाषी थे। दुःखी व्यक्तियों की सेवा एवं परकल्याण को आप पूर्णतया समर्पित थे। बहुजन हिताय बहुजन सुखाय ही आपके जीवन का आदर्श था। आप लगातार ४० वर्षों तक अपने पंचायत के ग्रामप्रधान रहे। जीवन के अन्तिम चरण तक आप राष्ट्रीय विद्यामंदिर इण्टर कालेज, चन्दवक, डोभी, जौनपुर के प्रबन्ध समिति के अध्यक्ष पद पर सुशोभित थे। आप एक कुशल सामाजिक कार्यकर्ता थे। आप अपने पीछे चार सुपुत्रों, दो सुपुत्रियों, छ पौत्रों एवं चार पौत्रियों से भरापुरा परिवार छोड़ गये हैं।

श्री आत्माराम जी के निधन का समाचार मिलते ही विद्यापीठ परिवार शोक संतप्त हो गया। सबने जिनेन्द्रदेव से श्री ओमप्रकाश सिंह एवं उनके परिवार को इस दुःख को सहन करने एवं मृतात्मा को शान्ति प्रदान करने हेतु प्रार्थना की।

*

श्रमण, वर्ष ५८, अंक २-३
अप्रैल-सितम्बर २००७

साहित्य सत्कार

पुस्तक समीक्षा

अहिंसा और विश्वशान्ति, लेखक-डॉ० रवीन्द्र कुमार जैन एवं डॉ० शशिप्रभा जैन, प्रकाशक- मेघ प्रकाशन, दिल्ली; आकार-डिमाई; पृ०-८०; मूल्य-रु०- ५० ।

प्रकृति प्रदत्त किसी भी जीव-अजीव के प्रति अहितकारी भाव का मन में आना हिंसा है और ठीक इसके विपरीत भाव का अर्थबोध अहिंसा है। आज विश्व-मनस अहिंसा के लिए आकुल है। प्रत्येक स्तर से अहिंसा को अंगीकार कराने का प्रयास निरन्तर जारी है। शांति की चाह में आज विश्व अशांत हो गया है। स्वभावत: मनुष्य शांत और सुगमता से जीवन का निर्वाह चाहता है। विसंगतियाँ उसे अशांत करती हैं और ऐसी स्थिति में वह स्वाभाविकता से विलग होकर या विलुप्त होकर शांति की तलाश में लग जाता है।

रही बात विश्वशांति की तो जैसे ही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का कलेवर मनुष्य ने छोड़ा, अशांति जागृत हुई और विश्वमानव ने 'विश्वशांति' की परिकल्पना कर डाली। आज विश्व जितना व्याकुल और भयाक्रांत है 'विश्वशांति' के लिए शायद इतना भयाक्रांत कभी नहीं था। जीवन था, जिजीविषा थी, जीवन-व्यवहार था, चरित्र था, समभाव था। आज पूरा विश्व विषमभाव में है, क्षणिक व्यामोह में फँसा है, वर्चस्व की बयार उस पर हावि है, ऐसी स्थिति में अहिंसा और शांति के घटक ही उसे समपथ के पथिक बनायेंगे और तब जाकर शांति का संधान समुन्नत होगा।

समीक्ष्य पुस्तक **'अहिंसा और विश्वशांति'** लेखक डॉ० रवीन्द्र कुमार जैन तथा डॉ० शशिप्रभा जैन की अद्यतन कृति है जो विश्वजनीन शाश्वत मूल्यों की प्रेरणा देने वाले चिंतन को प्रसारित करने के लिए संकल्पशील प्रकाशक मेघ प्रकाशन, दिल्ली की प्रस्तुति है। प्रस्तुत पुस्तक ज्वलंत समसामयिक समस्याओं के प्रकरण से उभरे अनागत भविष्य की चिंता की व्याख्या से परिपूर्ण है। इन व्याख्याओं के माध्यम से समाधान की तलाश इस पुस्तक का उद्देश्य है।

भयाक्रांत जीवन, अज्ञातभय, चरित्र का संकट, विसंगतियों की परिपाटी, विषमता भरा आत्म-केन्द्रित जीवन ने जिजीविषा को समाप्त कर मानव-जीवन को

संवेदनशील बना दिया है। इस प्रचलित संवेदनहीनता को धर्मों की फुलवारी से चुन-चुन कर शृंगारित किया गया है। अहिंसा और शांति की अवधारणा में जैनधर्म की प्रासंगिकता और प्रयोगधर्मिता को विशेषरूप से सर्वग्राह्य और समन्वयकारी बताना समीक्ष्य पुस्तक का प्रधान लक्ष्य है। पुस्तक दस छोटे-बड़े अध्यायों में विभक्त है। अध्याय चार 'राष्ट्रीय चरित्र' की व्याख्या है। कहना न होगा कि आज चरित्रहीनता ही नया चरित्र का पैमाना हो गया है ऐसी स्थिति में अहिंसक-व्यवहार की परिकल्पना तो जरूर ग्राह्य है, परन्तु जमीनी धरातल पर व्यावहारिक-अहिंसा का आग्रह ही पुस्तक-प्रणयन का सहोदर भाव है। अध्याय सात 'आतंकवाद और अहिंसा' को प्रस्तुत है। ध्यातव्य है कि वाद का विवाद तभी होता है जब कहीं-न-कहीं से किसी भी रूप में शोषण होता है। आतंकवाद अन्याय-विषमता-असंतोष का त्रि-आयामी विस्फोट है जो शोषण के जल से सिंचित है। इससे मुक्ति का पथ प्रदर्शित करना लेखक द्वय की व्यावहारिक दार्शनिकता है। पुस्तक में काव्य पंक्तियों की मनोहारी प्रस्तुति से लेखकद्वय के काव्य सृजनधर्मा होने का परिचय मिलता है। सच भी है काव्य की प्रेरणा से परिवर्तन स्वाभाविक भी हो जाता है। परिवर्तन चाहे मन का हो या हृदय का- अहिंसा असरकारी अव्यय है। पुस्तक का कवर-पृष्ठ शांत-सौन्दर्य का विभाव देता है। विषयगत और विषयेतर-दोनों ही अध्येताओं के लिए पुस्तक पठनीय और समसामयिक संदर्भ में प्रेरणादायी है।

डॉ० डी०एन० प्रसाद
प्राध्यापक, अहिंसा एवं शान्ति अध्ययन
म०गां०अन्तर०हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा

जैनधर्म की श्रमणियों का बृहद इतिहास- लेखिका- डॉ० साध्वी विजय श्री 'आर्या'; प्रकाशक- भारतीय विद्या प्रतिष्ठान, एम- २/७७, सेक्टर १३, आत्म वल्लभ सोसायटी, रोहिणी, दिल्ली- ११००८५; आकार-क्राऊन; पृष्ठ- ५६+१०१२= १०६८; मूल्य- २०००/- रुपये (दो हजार रूपये)।

भारतीय संस्कृति में अनेक धर्मों का समन्वय है। यहाँ पर सभी को बराबर स्थान प्राप्त है। कोई धर्म ऊंचा या नीचा नहीं है। विभिन्न धर्म परम्पराओं के बीच में श्रमण परम्परा में जैन धर्म का अपना अलग स्थान है। जैन धर्म का प्रारम्भ प्रथम तीर्थकर भगवान ऋषभदेव के समय से माना जाता है। वर्तमान में चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर का शासन काल चल रहा है। जैन धर्म में पुरुष ही नहीं स्त्रियां भी दीक्षित होती हैं। उनकी भी अपनी गौरव गाथा है। पुरुषप्रधान समाज होने के कारण आज भी स्त्रियों की अवहेलना हो रही हैं। साध्वीश्री ने एक क्रांतिकारी कदम बढ़ाया

है और स्त्रियों के इतिहास को प्रस्तुत किया है। इस विशालकाय ग्रंथ में जैन परम्परा की चारों शाखाएं- दिगम्बर, मूर्तिपूजक, स्थानकवासी और तेरापंथी सम्प्रदाय में दीक्षित साध्वीयों का न केवल जीवन परिचय अपितु उनके कर्तव्य का भी उल्लेख किया है। प्रस्तुत ग्रंथ में आठ अध्याय हैं। **प्रथम अध्याय** पूर्व पीठिका २१ उप-विषयों में विभाजित कर लिखा गया है जिसमें श्रमण संस्कृति की प्राचीनता जैनधर्म के सन्दर्भ में, वैदिक धर्म में नारी संन्यास, बौद्धधर्म में भिक्षुणी संघ, ईसाई धर्म में संन्यस्त महिलाएं, इस्लाम धर्म का नारियों के प्रति दृष्टिकोण, सूफीमत में संन्यस्त स्त्रियां, विश्व धर्मों के साथ जैन श्रमणी संस्था की तुलना, दिगम्बर परम्परा में श्रमणी संस्था की उपेक्षा एवं उसके कारण, जैन श्रमणी संघ की आंतरिक व्यवस्था, जैन श्रमणी दीक्षा महोत्सव, जैन श्रमणी संघ के इतिहास को जानने के साधन-स्रोत, जैन कला एवं स्थापत्य में श्रमणी दर्शन आदि विषय समाहित हैं। **द्वितीय अध्याय-** प्रागैतिहासिक काल को ७ उप-विषयों में विभाजित किया है। इसके अन्तर्गत, भगवान ऋषभदेव से भगवान पार्श्वनाथ के काल तक की श्रमणियों का इतिहास, आगम तथा आगमिक व्याख्या साहित्य में वर्णित श्रमणियां, जैन पुराण साहित्य तथा जैन कथा साहित्य में वर्णित जैन श्रमणियों का उल्लेख किया गया है। **तृतीय अध्याय-** इसमें महावीर और महावीरोत्तर काल की श्रमणियों की चर्चा की गई है। **चतुर्थ अध्याय** में दिगम्बर परम्परा के अन्तर्गत अतीत से वर्तमान तक १२ उप-विषयों में व्याख्यायित किया है। इसमें श्वेताम्बर दिगम्बर परम्परा भेद, दिगम्बर परम्परा का आदिकाल, दक्षिण भारत में जैन श्रमणियों का अस्तित्व, यापनीय, भट्टारक परम्परा की आर्यिकाएँ, कर्नाटक, तमिलनाडु, उत्तर भारत की आर्यिकाएँ समकालीन आर्यिकाएँ एवं क्षुल्लिकाएँ आदि को विवेचित किया गया है। **पंचम अध्याय-** श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा (अतीत से वर्तमान) में ९ उप-विषयों के माध्यम से श्रमणियों को वर्गीकृत किया है। इसमें खतरगच्छ, तपागच्छ, समकालीन तपागच्छीय, अंचलगच्छ, उपकेशगच्छ, आगमिक गच्छ, पार्श्वचन्द्र गच्छ की श्रमणियों का उल्लेख है। प्रशस्ति ग्रन्थों व हस्तलिखित प्रतियों में श्रमणियों का योगदान तथा जिनका पूर्ण परिचय प्राप्त न हो सका उन श्रमणियों के नामों की सूची दी गई है। **षष्ठ अध्याय-** स्थानकवासी परम्परा के अन्तर्गत धर्मवीर लोकाशाह और उनकी धर्मक्रांति, स्थानकवासी नामकरण लोकागच्छीय श्रमणियां, क्रियोधारक आचार्य श्री जीवराज जी, श्री लवजी ऋषि जी, श्री धर्मसिंह जी महाराज, श्री धर्मदास जी महाराज, श्री हरजी ऋषि जी की श्रमणी परम्परा का वर्णन किया गया है। इसके साथ ही हस्तलिखित ग्रन्थों में स्थानकवासी जैन श्रमणियों का योगदान तथा शेष श्रमणियों की तालिका दी गई है। **सप्तम अध्याय-** तेरापंथ परम्परा के अन्तर्गत १४ उप-

विषयों में आचार्य भिक्षु से आचार्य महाप्रज्ञ के काल तक की श्रमणियों का उल्लेख किया गया है। इसमें, तेरापंथ संघ की स्थापना (तेरापंथ सम्प्रदाय स्थानकवासी परम्परा से ही निकला हुआ है अत: यह संघ प्राचीन नहीं है), तेरापंथ संघ की श्रमणियां, आचार्य भिक्षु, भारमल जी, रायचंद जी, जीतमल जी (जयाचार्य), मघवागणी, माणकगणी, डालगणी, कालूगणी, तुलसीगणी तथा आचार्य महाप्रज्ञ के काल की श्रमणियों का वर्णन इसमें किया गया है। यहां यह उल्लेख करना चाहूंगी कि तेरापंथ धर्मसंघ में साधु-साध्वीवृन्द-अर्थात् दोनों का ही इतिहास मुनि नवरत्नमल जी के द्वारा शासन-समुद्र भाग- १-२५ तक में क्रमश: दीक्षावार तथा प्रत्येक आचार्य के काल के आधार पर लिखा जा चुका है जो कि अन्य परम्पराओं में देखने को नहीं मिलता है। इसके अतिरिक्त आचार्य तुलसी ने साधु व श्रावक के बीच की एक नई श्रेणी को जन्म दिया, जिसका नाम है- समण-समणी श्रेणी। इसका उल्लेख भी 'तेरपंथ समणी संस्था का विकास एवं अवदान' नामक शीर्षक में किया गया है। **अष्टम अध्याय-**उपसंहार है। इसमें सम्पूर्ण कृति का सार-संक्षेप रूप में प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह विशालकाय ग्रन्थ अपने आप में कोश का कार्य कर रहा है, क्योंकि इसमें किसी को भी छोड़ा नहीं गया है। अधिक से अधिक जानकारी देने का साध्वीश्री ने जो अथक परिश्रम किया है उसके लिए वे साधुवाद की पात्र हैं। सुन्दर अक्षर-सज्जा के साथ प्रस्तुत यह ग्रन्थ प्रत्येक पाठक के लिए संग्रहणीय है। इस कृति के प्रणयन के लिए मैं व्यक्तिगत रूप से साध्वी श्री के प्रति आभार प्रकट करती हूँ कि उन्होंने उल्लेखनीय कार्य को अंजाम दिया है।

डॉ० सुधा जैन,
वरिष्ठ प्राध्यापक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ

१. अन्यथाख्यातिवादीया (विद्वत्संगोष्ठी), प्रका०- श्री वल्लभाचार्य ट्रस्ट, कंसारा बाजार, माण्डवी, कच्छ- ३७०४५६, संस्करण- प्रथम (वि०सं० २०५८), आकार- डिमाई, पृ० ६१७, मूल्य रु० १५०/-

प्रस्तुत ग्रन्थ में श्री वल्लभाचार्य ट्रस्ट, माण्डवी- कच्छ, गुजरात द्वारा अन्यथाख्यातिवाद पर आयोजित विद्वत् परिचर्चा का संकलन है। इसमें विभिन्न विद्वानों के कुल १७ शोध-पत्र संकलित हैं। प्रारम्भ में श्री बालकृष्ण भट्ट विरचित 'ख्यातिवाद विवेक' और गोस्वामी श्री पुरुषोत्तम विरचित 'ख्यातिवाद' का अंकन किया गया है। दोनों ही लेख उच्च कोटि के ख्यातिवादीय परिचर्चा को समेटे हुए हैं। लेख संस्कृत

भाषा में है। प्रथम दिन उद्घाटन-सत्र में गोस्वामी श्याम मनोहर पठित शोध-पत्र 'ख्यातिवाद की चर्चा में कुछ पुर:स्फूर्तिक विचार-बिन्दु' के अन्तर्गत भ्रान्ति के विषम स्वरूप और उसके ज्ञान की सत्यता-असत्यता को उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है। दूसरे दिन प्रथम सत्र में डॉ० सुधांशु शेखर शास्त्री द्वारा 'अनिर्वचनीयख्याति' विषय पर शोध-पत्र वाचित किया गया जिसमें डॉ० शास्त्री ने अनिवर्चनीयख्याति पर सारगर्भित मन्तव्य प्रस्तुत किया है। साथ ही डॉ० सुनन्दा शास्त्री पठित 'Anyakhyāti in comparision with Vijñānabhikṣu's view in Yogsūtra' एवं डॉ० यज्ञेश्वर शास्त्री पठित 'Mādhyamika's Theory of Error in Comparision with Anyakhyāti of Śuddhādavaita School' दोनों शोध-पत्र सारगर्भित परिचर्चा से परिपूर्ण हैं। दूसरे ही दिन द्वितीय सत्र में डॉ० अम्बिकादत्त शर्मा पठित 'बाह्यार्थवादी बौद्ध सम्मत ख्यातिविचार एवं अन्यथाख्याति'; डॉ० किशोर नाथ द्वारा 'ख्याति के प्रसंग में सांख्य तथा वाल्लभ-वेदान्त का तुलनामूलक अध्ययन' एवं डॉ० बलिराम शुक्ल पठित 'नव्यनैयायिकानाम् अन्यथाख्यातिवाद:' अपने-अपने विषम वैशिष्ट्य को स्थापित करने में समर्थ हैं। तीसरे दिन प्रात:कालीन सत्र में डॉ० पारसनाथ द्विवेदी द्वारा 'अन्यख्यात्यनिर्वचनीयख्याती', डॉ० के० ई० देवनाथन द्वारा 'यथार्थख्याति:' एवं प्रो० राजेन्द्र मिश्र द्वारा 'काश्मीर शैव सिद्धान्त के विशेष परिप्रेक्ष्य में शुद्धाद्वैत वादाभिमत ख्यातिविचार की समीक्षा' विषय पर विद्वतापूर्ण शोध-पत्रों का वाचन हुआ। शोध-पत्र वाचनोपरान्त इन सभी पर हुई चर्चा विषय की गहराई को समझाने में समर्थ है। तीसरे दिन के मध्याह्न सत्र में डॉ० विन्ध्येश्वरी प्रसाद मिश्र पठित 'श्री वल्लभ वेदान्ताभिमतान्यख्याति: श्रीमद्भागवतनिरूपित- विकल्पख्याति: च' प्रो० डी० प्रह्लादाचार पठित 'माध्ववेदान्तीयाभिनवान्यथाख्याति:', एवं डॉ० बी० के० दलाई पठित 'Jain Theory of error' विषय पर चर्चा हुई। विषय विशेष से सम्बन्धित उत्कृष्ट शोध-पत्रों पर हुई विशिष्ट चर्चा इस ग्रन्थ की महत्ता को दर्शाता है। इस ग्रन्थ में पठित शोध-पत्रों के अतिरिक्त चार अन्य विद्वानों के आलेखों का अंकन भी है जो इस प्रकार है- 'का समुचिता अन्यख्याति: अन्यथाख्याति: वा? (डॉ० सच्चिदान्द मिश्र), 'Some Reflections on Nimbārk's Theory of Perceptual Error (Dr. Madan Mohan Agrawal)', 'Perceptual Error : The Western Viewpoint' (Dr. Sri Niwas Rao)' एवं 'पश्चिमी दर्शन में भ्रान्ति विचार के विकास की रूपरेखा वाल्लभ वेदान्तानुसारी : एक विमर्श (गोस्वामी श्याम मनोहर)।

अन्त में कहा जा सकता है कि इस ग्रन्थ में ख्यातिवाद से सम्बन्धित जितनी सामग्री उपलब्ध है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इतने कम मूल्य में इतनी उत्कृष्ट सामग्री एक

जगह उपलब्ध होना संभव नहीं है अत: यह पुस्तक दर्शनशास्त्र के ज्ञानपिपासु पाठकों एवं शोधार्थियों के लिए अत्यन्त ही उपयोगी, पठनीय एवं संग्रहनीय है।

डॉ० राघवेन्द्र पाण्डेय

२. प्रवचनसार भाषाकवित्त (पण्डित देवीदास विरचित), सम्पादन एवं अनुवाद- डॉ० श्रेयांश कुमार सिंघई, प्रका०- भारतीय श्रुति दर्शन केन्द्र, जयपुर, संस्करण-प्रथम (२००६), आकार-डिमाई, पृ० ४१६, मूल्य रु० ५०/- ।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'प्रवचनसार भाषाकवित्त' आचार्य कुन्दकुन्द के 'प्रवचनसार' का हिन्दी पद्यानुवाद है जिसे पं० देवीदास ने अपनी लेखनी से मूर्त रूप दिया है। दर्शन एवं धर्मशास्त्र के दुरूह शब्दों को जब सरल-सुबोध भाषा देने का प्रयास किया जाता है जिसे आम-जन भी आत्मसात कर सके तब वह प्रवचन कहलाता है। प्रस्तुत ग्रन्थ को पं० देवीदास ने हिन्दी भाषा में प्ररूपित किया है इसका सुन्दर एवं सरल भाषा में अनुवाद डॉ० श्रेयांश कुमार सिंघई जी ने किया है।

मनुष्य का चरम लक्ष्य होता है जीवन में प्राप्त होने वाले दु:खों का परिहार कर सुख की प्राप्ति करना। परन्तु ये सुख हमें उचित माध्यम से ही प्राप्त होने चाहिए। मुक्ति विषयक दृष्टि से प्रवचन काफी महत्त्वपूर्ण होता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रस्तावना के अन्तर्गत प्रवचन से सम्बन्धित स्रोत, शास्त्रीय अवधारणा एवं उसके अधिकारों आदि पर सारगर्भित विचार किया गया है। इसमें आचार्य कुन्दकुन्द का प्रवचनसार और उसकी विभिन्न टीकाओं के विषय में भी बताने का प्रयास किया गया है। ज्ञानतत्त्व अधिकार शीर्षक के अन्तर्गत चौबीस तीर्थकरों की स्तुति के साथ-साथ भूत-भविष्य के सभी तीर्थंकरों, सिद्धों, आचार्यों, उपाध्यायों, साधुओं आदि की स्तुति भी की गई है। ज्ञेयतत्त्व अधिकार शीर्षक के अन्तर्गत पदार्थ, द्रव्य, जीव, आत्मा, आकाश, काल, पुद्गल, बन्धन, मोक्ष-मार्ग के स्वरूप आदि पर विस्तृत विवेचना है। चारित्र अधिकार शीर्षक के अन्तर्गत आचार-विचार की चर्चा है। मुनि के लिए विभिन्न आचार-विचारों का निर्देश है। अत: प्रस्तुत ग्रन्थ जैन धर्म एवं आचार दर्शन के ज्ञानपिपासु पाठकों के लिए उपयोगी है।

डॉ० राघवेन्द्र पाण्डेय

३. जैनागमों में अष्टांगयोग, लेखक - श्री आत्माराम जी म०, सम्पा०- श्री शिवमुनि जी म०, प्रका०- प्रज्ञा, ध्यान एवं स्वाध्याय केन्द्र, पुणे, संस्करण-द्वितीय (२००३), आकार-डिमाई, पृ०-१५४ ।

जिनभाषित वाणी के अभिप्रेत अर्थ को ग्रहण कर गणधरों एवं उनके अनन्तर स्थविर मुनियों ने जिन्हे शब्द रूप में गूंथा वे ही ग्रन्थ 'आगम' नाम से जाने जाते हैं। आगम ज्ञान-विज्ञान का अपार भण्डार है जिसमें दर्शन, विज्ञान, साहित्य, आचार-विचार आदि प्रत्येक क्षेत्र का समावेश स्वत: ही हो जाता है। योग का एक प्रमुख अंग है- अष्टाङ्गयोग, जिसकी चर्चा जैनागमों में विस्तृत रूप से प्राप्त होती है। लेखक ने योग सम्बन्धी इसी विवेचना को सरल एवं सहज भाषा में आम-जन तक पहुँचाने का कार्य किया है। जैन विद्या के अनन्य साधक आचार्य शिवमुनिजी के सम्पादकत्व ने इस ग्रन्थ की महत्ता को और भी बढ़ा दिया है। आज जितनी भ्रान्तियाँ योग के विषय में हैं, शायद ही किसी अन्य विषय में हों। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने उपोद्घात के अन्तर्गत योग शब्द का महत्त्व, योग की पतञ्जलिकृत व्याख्या, योग की आगमिक व्याख्या, हरिभद्रसूरि द्वारा की गयी योग-व्याख्या आदि को विवेचित किया है। 'जैनागमों में अष्टाङ्गयोग' के अन्तर्गत ध्यान के भेदोपभेद, धर्मध्यान, शुक्लध्यान और उसके अधिकारी, जैन योग में समाधि, पातञ्जल योग की विभूतियाँ, ओ३म् एवं सोऽहम् आदि पर सविस्तार प्रकाश डाला गया है। 'जैनागमों के सन्दर्भ में योग एक चिन्तन' के अन्तर्गत वैदिक, बौद्ध एवं जैन दर्शन में योग की चर्चा एवं धारणा, ध्यान, समाधि पर उत्कृष्ट विवेचना की गई है। 'ॐकार : एक अनुचिन्तन' में ॐकार की उच्चारण-विधि, ॐकार ध्यान-विधि आदि का सविस्तार वर्णन किया गया है। 'आत्मशुद्धि की साधना- आगमिक धारा' के अन्तर्गत सोऽहं साधना, ध्यान, सम्यक्-दर्शन, ध्यान और जीवन आदि का उल्लेख है । ध्यान का क्रियात्मक स्वरूप एवं उपलब्धि शीर्षक के अन्तर्गत वैदिक, बौद्ध, जैन आदि की ध्यान-विधियों, उनका मानव जीवन पर प्रभाव की चर्चा सोदाहरण की गई है। अन्त में परिशिष्ट के अन्तर्गत आगमों में वर्णित योग-चर्चा का अंकन किया गया है।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि इस छोटी-सी पुस्तक में विद्वान् लेखक एवं सम्पादक ने योग के सम्बन्ध में लोगों की भ्रान्तियों का निराकरण कर उसे वैज्ञानिक कसौटी के आधार पर आम सुधी-जन के लिए उपयोगी रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। आशा है ज्ञानपिपासु विद्वान् पाठक इस पुस्तक का एक बार अवश्य अध्ययन करेंगे और अपनी जीवन की समस्याओं से छुटकारा पाकर लाभान्वित होंगे।

डॉ० राघवेन्द्र पाण्डेय
दर्शन एवं धर्म विभाग,
का०हि०वि०वि०, वाराणसी

साभार

१. **राज सिहंना पराकमो**, प्रवचनकार, मुनि श्री भव्यचन्द्रविजयजी, प्रका०- देवेन्द्रकुमार माणिकलाल शाह, २०४/बी. विनय कमप्लेक्स, वासना बस स्टैण्ड के पास, अहमदाबाद-३८०००७

२. **मुक्तियाँ, लेखक स्वतंत्र**, प्रका०- श्री कहान गुरु तत्त्व प्रसार केन्द्र, १४५, विन्ध्याचल नगर, एरोड्रम रोड, इन्दौर (म.प्र.)

३. **दरियामां डूबकी**-३, प्रवचकार- मुनि श्री भव्यचन्द्रविजयजी, प्रका०- देवेन्द्रकुमार माणिकलाल शाह, २०४/बी. विनय कमप्लेक्स, वासना बस स्टैण्ड के पास, अहमदाबाद-३८०००७

४. **माँ की ममता हमें पुकारे**, लेखक मुनिश्री चन्द्रप्रभ, प्रका०-गोविन्दचन्द मेहता, ए-२४६, शास्त्रीनगर, जोधपुर

५. **आत्मा से परमात्मा**, प्रवचनकार- आचार्य श्रीमद् राजयशसूरिजी, प्रका०- प्रकाश कास्मेटिक, दिगम्बर बाजार, हैदराबाद-५०००१२

६. **प्रवचनसारोद्धार** (सार्थ), भांग-१-२, विवेचक- श्रीमद् विजयसूरीश्वर जी, प्रका०- श्री बी.के. कोठारी रीलिजीयस ट्रस्ट, चंदनबाला, चार ठक्कर मार्ग, रीज रोड, बालकेश्वर, मुम्बई-४००००५

७. **वैराग्यशतक**, सम्पा०- मुनि पुण्यकीर्ति विजय, प्रका०- सन्मार्ग प्रकाशन, श्वे०मू०तप जैन आराधना भवन, पाछीयानी पोल, रीलिक रोड, अहमदाबाद-३८०००१

८. **जैन श्रीरामकथा**, प्रस्तुति- रमेश गुणभद्र जैन, प्रका०-श्रीमती सुधा देवेन्द्र जैन, सन्मति ट्रस्ट, २१-बी, कहाननगर, एन.सी. केलकर रोड, दादर (प), मुम्बई-४०००२८

९. **छहढाला का सार**, लेखक-डॉ० हुकुमचन्द भारिल्ल, प्रका०-श्री अ.भा.दिग. जैन विद्वत्परिषद् ट्रस्ट, १२९, जादोननगर, बी. स्टेशन रोड, दुर्गापुरा, जयपुर (राजस्थान)

१०. **पश्चात्ताप**, लेखक- डॉ० हुकुमचन्द भारिल्ल, प्रका०- पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५

११. **अद्भूत योगिनी अमरकथा**, लेखक- महो०श्री देवविजयजी गणिवर्य, प्रका०- श्री पंचजिनेश्वर कैवल्य धाम, महातीर्थ पेढी, ओगनाज, अहमदाबाद

१२. **सिद्धलोक एवं सिद्धत्व साधना के सूत्र**, लेखक डॉ० राजेन्द्र कुमार बंसल, प्रका०-श्री अ.भा.दिग. जैन विद्वत्परिषद् ट्रस्ट, १२९, जादोननगर, बी. स्टेशन रोड, दुर्गापुरा, जयपुर (राजस्थान)

१३. **तर्कसंग्रह कारिकावली मूलम्** , संकलनकर्ता- श्रीमद् विजय सोमसुन्दरसूरि, प्रका०- अअचार्य शान्ति-सोमसुन्दरसूरि ज्ञानमंदिर ट्रस्ट, सर्वोदयनगर, शाहपुर, अहमदाबाद

१४. **श्री नानेशशतक**, लेखक-सुमन्तभद्र, प्रज्ञापारमिता प्रकाशन, पो-बॉ० नं० १२, चिंचवड, पूना-४११०३३

१५. **नींव का पत्थर**, पण्डित रतनचन्द भारिल्ल, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर-३१२०१५

१६. **सत्य की खोज**, लेखक- मुनिराज श्री जयानंद विजयजी, शा देवीचंद छगनलालजी सदर बाजार, भीनमाल-३४३०२९

१७. **मायनुं तेनुं स्मरण**, प्रका०- श्री गरांबडी श्वे०मू०पू० जैन संघ, गरांबडी, तालुको वाव, जि०-बनासकांठा

१८. **श्राद्धविधिकौमुदी** (संक्षेप), सम्पा०- मुनिश्री वैराग्यविजयजी, प्रका०- प्रवचन प्रकाशन, रविवार पेठ, पूना-२ ।

*

NO PLY, NO BOARD, NO WOOD

ONLY NUWUD®

INTERNATIONALLY ACCLAIMED

Nuwud MDF is fast replacing ply, board and wood in offices, homes & industry, As cellings

DESIGN FLEXIBILITY

flooring furniture, mouldings, panelling, doors, windows... and almost infinite variety of

VALUE FOR MONEY

woodwork. So, if you have woodwork in mind, just think ***NUWUD MDF***

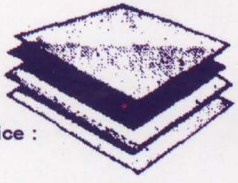

MUCHEM LIMITED

NUWUD MDF

The one wood for all your woodwork

Registered Head Office :
20/6, Mahura Road,
Faridabad-121006,
HARYANA.
Tel: +91 129 230400~6,
Fax: +91 129 5061037.

IS 12406

Marketing Offices

Ahmedabad : 502, Anand Mangal, Complex-1,Behind Omkar House, Near Swastika Charrasta, C.G. Road, Ahmedabad-380009. Tel: 079-30958929, 31028976, Fax: 079-26466585. **Banglore :** D 1/4, Hayes Court, 11/9 Hayes Road, Richmond Town, Banglore. Tel: 080-30958040, 22279219, Fax. 080-22279219. **Delhi/UP :** E-46/12, Okhala Industrial Area, Phase II, New Delhi-110020. Tel. 011-26385737, 26383234, 26384656, Fax : 011-41611846. **Chennai :** Tyagraj Complex, No. 583, (New No. 250), 4A. 4th Floor, Poonamalee High Road, Kilpauk, Chennai-600010.Tel. 044-30970880, Fax: 044-25323731. **Hyderabad :** A-3, View Towers, 6-2-1, Lakadi Ka Pul, Hyderabad-560904. Tel: 040-30935561, 23307604, 23314794, **Kerala :** 33/1560-G, Chakkaraparampu Road, Vennala (P.O.), Engakulamm, Kochi-682028 Tel: 0484-3969454, 3969452, **Jalandhar :** 29, G.T. Road, Kalra Building, Jalandhar-144001. Tel: 09316039144, 09347203593. **Jaipur :** 42, Dhuleshwar Garden, 1st floor, Near Ajmer Road, Jaipur-302001. Tel: 014 1-3028940, 270557, Fax: 0141-2214727. **Mumbai :** Shive Centre Office No. 214, 2nd Floor, Plot No. 72, Sec-17, Vashi Navi, Mumbai-400705. Tel: 022-39436667, 25002250, Fax: 022-25002250. **Pune :** 209, 2nd floor, Ashoka Mall, Opp. Hotel Sun N Sand, Bundgarden Road, Pune-411001. Tel: 020-39505076, 6121353, Fax: 020-26121353.